

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_I 180268

UNIVERSAL
LIBRARY

અનુશીલન

ૐૐૐ

અ. રા. મ. કુ. ભા. ર. વ. બી.

त्रिवेणी पुस्तक-माला—६

अनुशीलन

शोधपूर्ण आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

डॉ० रामकुमार वर्मा

साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद—२
के लिए



८० सी. मधवापुर, इलाहाबाद

त्रिवेणी पुस्तक-माला
संयोजिका : संचालिका—शकुन्तला मिश्र
सम्पादक . राजकुमार शर्मा
पुस्तक संख्या—६
आलोचना-पुस्तक—१

Checked 1965

Checked 1969

H. 3065
1184
424

आवरण सज्जा
उमेशचन्द्र वर्मा
शरद पूर्णिमा, १९५७
प्रथम संस्करण

मूल्य : चार रुपये पचास नये पैसे

प्रकाशक : साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद—२, के लिए
शकुन्तला मिश्र, त्रिवेणी प्रकाशन, ८० सी, मधवापुर, इलाहाबाद
मुद्रक : हिन्दी-साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

दो शब्द

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। प्राचीन-काल में साहित्य (गद्य-पद्य) के माध्यम से उपयोगी उपदेश दिये जाते थे। आधुनिक युग का साहित्यकार भी अपने मन की बात कहना चाहता है, पर उसके कहने का ढंग बहुत कुछ बदल गया है।

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की दृष्टि में रखते हुए ही मेरे इन लेखों का प्रणयन हुआ है।

आज के समाज में जो विकार हैं, जो समस्याएँ हैं, उनकी चिकित्साएँ एक ही औषधि से हो सकती है और वह औषधि है —सत्साहित्य ! साहित्य के इस रूप पर भी मैंने प्रकाश डाला है।

यदि मेरे ये लेख साहित्य और समाज में प्रेरणा और स्फूर्ति का संचार करने में समर्थ हुए, तो मैं अपनी इस कृति को सफल समझूँगा।

लेखों के चयन, मुद्रण तथा प्रूफ संशोधन में मेरे प्रिय शिष्य श्री सुरेशचन्द्र अग्निहोत्री तथा श्री राजकुमार शर्मा ने बहुत परिश्रम किया है। उनकी श्रद्धा का मूल्य मेरे शब्द नहीं आँक सकेंगे।

साकेत,
शरद-पूर्णिमा
२०१४

}

—रामकुमार वर्मा



अनुक्रम

क. साहित्य के मूल तत्व

१. साहित्य	६
२. सुन्दर और असुन्दर	३२
३. शृंगार रस : संयोग पक्ष	४०
४. साहित्यिक न्याय-भावना का विकास	६०
५. हास्य और व्यंग्य	६८

ख. मध्ययुगीन साहित्य

६. सन्त काव्य का भाव-पक्ष	७५
७. सन्त साहित्य की धार्मिक पृष्ठभूमि	८८
८. सन्त साहित्य की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि	१०२
९. साहित्य परम्परा	१११
१०. सन्त साहित्य के पूर्ववर्ती कवि	१२२
११. कबीर दर्शन	१३६
१२. भक्त कवियों पर युग-प्रभाव	१४५
१३. कलाकार तुलसीदास	१५६

ग. आधुनिक साहित्य

१४. आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि	१६४
१५. भारतेन्दु की नाट्य-कला	१६६
१६. आधुनिक उपन्यास साहित्य	१७८
१७. प्रसाद का काव्य	१८१
१८. युद्ध-कालीन हिन्दी-कविता	१८७

घ. व्यक्तिगत

१६.	मेरी काव्य-रचनाएँ	१६३
२०.	धरती का स्वर्ग	१६६
२१.	मेरी श्रद्धा-कामना	२०५
२२.	महादेवी वर्मा	२०६
२३.	मृत्यु का अनुभव	२१३



साहित्य

सीमा से चिरमुक्ति—साहित्य के विस्तार पर विचार करते समय इस सत्य को हृदयंगम करने की आवश्यकता है कि साहित्य प्रतिक्षण जीवन की सीमाओं को तोड़ कर उसे असीम बनाने में प्रयत्नशील है। साहित्य में न तो देशकाल की सीमा है और न वस्तु जगत् की ही कोई संकीर्ण परिधि है। जीवन की वास्तविकता अपने यथार्थ रूप में अत्यन्त सीमित है। समय की गति के साथ इस वास्तविकता का प्रतिफलन नये-नये कार्यों और कारणों में होता है और फलों के खिलने और मुरझा जाने की क्रियाशीलता में जीवन अनेकानेक घटनाओं की श्रेणी में व्यतीत होता है। किन्तु जब साहित्य इस वास्तविकता को हृदयंगम करता है और अपनी संवेदनाओं से जोड़ते हुये उसे सँवारता है, तो उसकी वास्तविकता जैसे उस सत्यता का रूप ग्रहण कहती है, जो जीवन के विकास में एक आवश्यक स्थिति की द्योतिका बन जाती है और उसे जीवन के राग तत्व से समन्वित कर उसे स्थिरता प्रदान करती है। उदाहरण के लिये सृष्टि के आदि काल से अब तक न जाने कितनी बार श्याम मेघमाला की घुँघुराली रूप-राशि आकाश के शीश पर सुशोभित हुई और शरद् में श्वेत होकर विलीन हो गई। उससे सामान्य नेत्रों को सौन्दर्य और कला का निमंत्रण नहीं मिला, किसी अकिंचन

की आशा की भाँति उठी और तिरोहित हो गई। किन्तु महाकवि कालिदास ने आषाढ़ के प्रथम दिवस में ही जिस मेघमाला के दर्शन किये थे, वह शताब्दियों के लिये वियोग की कथा कहने वाले दूत की भाँति मुखरित हो उठी जैसे कालिदास ने उस मेघमाला को उसकी वस्तु गत सीमा से मुक्त कर उसे ऐसी असीमता प्रदान की कि वह शताब्दियों में निवास करने वाले मानव के हृदयाकाश पर प्रत्येक ऋतु में प्रेम की अजस्र वर्षा कर सकी। न जाने कितने आश्रमवासियों ने अपनी अञ्जुलियों में जल भर कर मृग-छौनो को जल पिलाया होगा, किन्तु स्मृति का संचार करने के लिये दुष्यन्त के समक्ष शकुन्तला ने अपनी अञ्जुली में जल भर कर दीर्घापांग नामक मृग-छौने को जो जल पिलाया था, वह अनेक सागरों का विस्तार लेकर आज के साहित्य प्रेमियों को भी रसासिक्त कर रहा है। इसी भाँति रात्रि में शिशुपा वृक्ष के नीचे विश्राम कर चुकने के उपरान्त सीता के आभूषणों से गिर कर जो कनक विन्दु पड़े रह गये थे, वे जैसे अलंकारों के प्राण बन कर साहित्य के पृष्ठों पर जगमगा रहे हैं। अंग्रेजी साहित्य में महाकवि कीट्स की ओड टु नाइट इंगेल कविता इस तथ्य का स्पष्ट संकेत कर रही है। एक स्थान पर कवि ने लिखा है :—

दाउ वास्ट नाट बॉर्न फ़ार डैथ इमॉर्टल बर्ड ।
 नो हंग्री जेनेरेशन्स ट्रेड दी डाउन ।
 दि वायस आइ हियर दिस पार्सिंग नाइट वाज़ हर्ड ।
 इन एंशेन्ट डेज़ बाई एम्परर एण्ड क्लाउन :
 परहैप्स दि सैलर सेम साँग दैट फ़ाउन्ड ए पाथ ।
 थू दि सैड हार्ट अक् रथ ह्वेन सिक फ़ार होम ।
 शी स्टुड इन टियर्स एमिड दि एलियन कान
 दि सेम दैट आफ़्ट टाइम्स हैड

चार्ल्स मैजिक केसमेन्ट्स ओपनिंग आन दि क्रोम ।

अव् पेरिलस सीज़ इन फ़ेयरी लैण्ड्स फ़रलार्न ॥

ओ अमर विहंग ! तू-मृत्यु के लिये उत्पन्न नहीं हुआ । कोई भी भूखी परम्परा तुम्हे पदाक्रान्त कर के आगे नहीं बढ़ सकती । इस क्षण जो संगीत मैं सुन रहा हूँ वह गम्भीर सम्राट् और विनोदी विदूषक ने समान रूप से सुना होगा ।

महाकवि कीट्स ने अमर संगीत गानेवाली इस बुलबुल को उसके विहंग शरीर की सार्थकता प्रतिष्ठित करते हुए उसे पार्थिवता से मुक्त कर दिया है और वह बुलबुल जिसका संगीत महाकवि ने सुना, अपने व्यक्तिगत शरीर से मुक्त होकर चिरन्तन अस्तित्व में अपना संगीत बिखेरने लगी है ।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण अनेक साहित्यों से उद्धृत किए जा सकते हैं । अभिप्राय यही है कि साहित्य जीवन के स्वाभाविक कार्य व्यापार को अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर उसके अस्तित्व का विस्तार कर देता है और उसको समयानुशासित परिस्थिति-जन्य सीमाओं से मुक्त कर उसे चिरन्तन अस्तित्व प्रदान करता है ।

अस्तित्व-विस्तार के दो कारण—वस्तुगत अस्तित्व का विस्तार दो कारणों से होता है । पहला तो वर्णन वैचित्र्य और दूसरा संवेदनात्मक रूप । साहित्य में सामान्य रूप-चित्रण का विशेष महत्व नहीं है । भले ही उसे स्वभावोक्ति या यथार्थवादी दृष्टिकोण का महत्व प्रदान किया जाय । जब कोई कवि प्रकृति या जीवन का यथावत् चित्रण करता है तो उसमें हमारी चित्तवृत्ति अधिक देर तक रमण नहीं कर सकती ।

दिवस का अवसान समीप था,

गगन था कुछ लोहित हो चला ।

इन पंक्तियों में कोई विशेष आकर्षण नहीं है, किन्तु पंक्त के प्रस्तुत

संध्या-चित्रण में वस्तु-स्थिति की रंजना वर्णन-वैचित्र्य के आकषण से शतमुखी हो उठी है ।

कौन तुम रूपसि कौन ?

व्योम से उतर रही चुपचाप

छिपी निज छाया छवि में आप

सुनहला फैला केश कलाप

मधुर मंथर मृदु मौन ।

... ..

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल ।

मदिर अधरों की सुरा अमोल ।

बने पावस घन स्वर्ण हिंडोल ।

कहो एकाकिनि कौन ?

मधुर मंथर मृदु मौन ।

अथवा, जब कोई चित्रकार किसी घटना या परिस्थिति का चित्र अंकित करता है तो उसे चित्र को सजीव बनाने के लिये कुछ रेखाओं को वस्तु स्थिति से अधिक उभारने की आवश्यकता हुआ करती है । सामान्य रूप से वार्तालाप में यथातथ्य वर्णन को रोचक बनाने के लिये अन्योक्तियों का आश्रय अभीष्ट है । इस प्रकार किसी इतिवृत्त या चित्र को अधिक महत्व पूर्ण बनाने के लिये वर्णन वैचित्र्य का प्रयोग साहित्य में निरन्तर होता है । और इसी साधन का उपयोग साहित्य ने वस्तु को चिरन्तन बनाने में किया है ।

दूसरा कारण संवेदनात्मक रूप है जो साहित्य की परिधि विस्तृत करने में सहायक होता है । साहित्य जीवन का चित्रण भले ही हो किन्तु यदि उससे जीवन गत संवेदना नहीं है तो उसकी चतुर्मुखी व्याप्ति में संदेह है । अब साहित्य की सृष्टि करने वाला अन्तर्दृष्टा जीवन के किसी अंश का चित्रण करता है तो वह उसे पहले सजीव करना चाहता है । अपनी संग्राहिका शक्ति से वह वर्य—विषय के

जिन पार्श्वों की अनुभूति करता है, उन्हें वह विशेष रूप से पुनर्निर्मित करता है। इस पुनर्निर्माण में उसकी चेतना प्रगतिशील होती है। और वह एक बिन्दु को सागर की अपार सीमाएँ प्रदान करता हुआ उसका सौन्दर्य मोतियों की भाँति बिखेर देता है। साहित्यकार की सृजनात्मक शक्ति दूर से दूर वस्तुओं में चेतना की ज्योति विकीर्ण कर उसे हृदय के समीप ला देती है। वह उसने किसी विशिष्ट स्मृति चिन्ता अभिलाषा या उद्वेग की संजीवनी डालकर उसे हृदय के स्पन्दन से प्रतिध्वनित कर देता है। जिन वस्तुओं में नीरसता है, उनमें वह अपनी संवेदना से सरसता का संचार करता है। पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में सृष्टि की परिवर्तन शीलता की प्रगति जो सामान्य दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखती, एक रूपक का आश्रय ग्रहण कर अत्यन्त आकर्षक बन गई है:—

अहे निष्ठुर परिवर्तन !

तुम्हारा ही तांडव नर्तन ।

विश्व का करुण विवर्तन

तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,

निखिल उत्थान पतन

अहे वासुकि सहस्रफन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर

छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर ।

शत् शत् फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर

घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर ।

मृत्यु तुम्हारा गरल दंत कंचुक कल्पान्तर

अखिल विश्व ही विवर

वक्र कुंडल

दिङ्मंडल ।

यह दृश्यमान जगत् क्षण-क्षण में अपना रूप परिवर्तन करता

है। इसी संवेदना को लेकर जीवन का इतिहास बन जाता है। वस्तुतः जीवन इसी दृश्यमान जगत् का समष्टि रूप ही होता है। हमें अपने जीवन की संवेदना घटनाओं के माध्यम से ही स्मरण रहती हैं। शैशव-यौवन की सदृश स्मृतियाँ किन्हीं विशिष्ट घटनाओं में स्मरणीय हो उठी हैं और जिस घटना में हमारा जीवन अधिकाधिक मुखर हो उठता है, वही घटना हमारे लिये चिरस्थायी महत्व का कारण बन जाती है। जो घटनायें जीवन की कोई तरंग नहीं उठा सकती वे सरिता के जल प्रवाह की भाँति अनन्त विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाती हैं। इस भाँति जो जीवन साहित्य की परिधि में आता है, वह संवेदना संभूत घटनाओं के रूप में ही आता है।

दूसरे शब्दों में जिस प्रकार चन्द्र की किरणों में जल को उठी हुई लहर अपनी सामान्य तरलता के स्थान पर पिघली हुई रजत राशि ज्ञात होती हैं, उसी भाँति संवेदना की किरण से सामान्य घटना स्मृतियों की रजत राशि बन कर जीवन में संचरित होती है। अतः संवेदना साहित्यगत जीवन को उभार कर उसे प्रवाहित होने के लिये अनन्त क्षेत्र प्रदान करती है और इसी के द्वारा स्थायी साहित्य का निर्माण होता है।

सुरुचि—साहित्य के विस्तार में रुचि का परिष्कार है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि उसकी मान्यताओं पर निर्भर है, जिसमें उसके संस्कार और भाव कार्य शील होते हैं, किन्तु जो रुचि देशकाल की सीमाओं से मुक्त हो जाती है और जिससे मानव अपने उदात्त रूप का निर्धारण करता है, वही रुचि साहित्य को स्वस्थ बनाती है। इस रुचि में कला का निवास है; वह सौन्दर्य प्रेरित है। अतः जिस अनुपात में रुचि अपने समस्त सौन्दर्य का माप दण्ड निर्धारित करेगी उसी अनुपात में वह ग्राह्य होगी। सौन्दर्य का दृष्टि कोण अपने विकास में आत्मा को परिष्कृत करना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा का परिष्कार करने वाली रुचि सौन्दर्य के माध्यम से

साहित्य का विस्तार कर सकेगी। यह पहले कहा जा चुका है कि सौन्दर्य के दो रूप हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल का सम्बन्ध इंद्रियों से है और सूक्ष्म का श्रद्धा या अन्तःकरण से। स्थूल सौन्दर्य हमारे हृदय में सुख की भावना को जन्म देता है और सूक्ष्म आनन्द को।

हिन्दी काव्य-साहित्य में इन दोनों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। बिहारी सतसई में एक दोहा है:—

पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसुकाय ।

कै कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाय ॥

नायक और नायिका शयन कक्ष में हैं। रात्रि अधिक व्यतीत हो चली है, किन्तु इस समय सखियाँ नायक और नायिका को घेरे हुये बैठी हैं। विविध प्रकार का हास-परिहास हो रहा है, यह हास परिहास इतना अधिक है कि समाप्त होने पर ही नहीं आता, और यहाँ नायक नायिका से एकान्त में प्रेम की बातें कहना चाहता है। जब बातों के विस्तार से नायक का धैर्य छूट गया तो उसने नायिका से सखियों के सामने ही प्रेम चर्चा आरम्भ कर दी। नायिका लज्जित हो उठी, उसने अपनी सखियों की ओर रहस्य भरी मुसुकान से देखा। सखियाँ नायिका का यह संकेत समझ गयीं और उनमें से प्रत्येक कोई न कोई बहाना बना कर, 'दूध आग पर रख छोड़ आई हूँ,' 'मेरा बच्चा रोता होगा,' 'वे आ गये होंगे,' कहकर प्रसन्नता पूर्वक संकेत करती हुई वहाँ से उठ गईं और नायक और नायिका को एकान्त में छोड़ दिया।

यह संयोग शृंगार का एक चल-चित्र है। महाकवि बिहारी ने मनोभावों के रंग से नायक-नायिका और सखियों को हमारी दृष्टि के समक्ष साकार कर दिया है। यह स्थूल सौन्दर्य है जो हमारी इन्द्रियों को स्पर्श करता है यद्यपि इसमें भी कला है।

दूसरी ओर इसी परिस्थिति का चित्र महाकवि तुलसीदास ने

सूक्ष्म सौन्दर्य की दृष्टि से अंकित किया है ! ‘—वरवै रामायण’ में महाकवि ने लिखा है :—

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन ।

सिय रघुबर के भये, उनींदे नैन ॥

वही शयन कक्ष है, वैसी ही परिस्थिति है । सीता और राम संयोग के बसंत में कामदेव और रति को भाँति सुखासीन है । उनके चारों ओर सखियाँ हैं । रात्रि व्यतीत होती जा रही है नायक की ओर से कोई संकेत न पा कर भी सखी यह अनुभव कर रही है कि उसे सीता और राम को उस शयन मन्दिर में एकान्त वार्तालाप की सुविधा देनी चाहिये, इसलिये सबके सामने—‘रति की बतियाँ’ जैसे अशोभन प्रसंग को न उठाते हुये भी वह किसी मिस से उठ कर चली जाती हैं, और कह जाती है कि सीता और राम की आँखें उनींदी हो चली हैं, हमें यहाँ से चला जाना चाहिये । तुलसीदास का नायक शिष्ट है और नैतिक मर्यादा समझता है । सखी भी बात करने का ढँग जानती है । वह वस्तुस्थिति की व्यञ्जना मुसकराकर करती है, शब्दों से नहीं । उसके कथन में व्यञ्जना के साथ कितना निरीह और पवित्र सौन्दर्य है ।

एक ही परिस्थिति के चित्रों में रुचि के दो भिन्न धरातल है और यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि महाकवि बिहारी की इस शृङ्गार-चित्रण की रुचि से महाकवि तुलसी की रुचि अधिक सूक्ष्म और परिष्कृत है । इसी रुचि के परिष्करण में साहित्य के विस्तार की रेखाएँ हैं । जीवन को परिष्कृत करने वाली, उसमें सूक्ष्म सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने वाली और लोक कल्याण को अग्रसर करने वाली रुचि साहित्य की विधात्री है ।

संतुलन—व्यावहारिक जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं, वे अपने क्रम में अनियंत्रित और असंतुलित होती है, इसीलिये जीवन में इतनी विषमता है । मनुष्य सोचता कुछ है, कुछ हो जाता है ।

सम्भव है घटनाओं की यही अनियमित गति उस कुतूहलता को जन्म देती है, जो जीवन की आसक्ति है। साहित्य जीवन के चित्रण में इस असंतुलित प्रगतिशीलता का संस्कार करता है। इसका कारण यह है कि वह उस तुमुल कोलाहल जगत में हृदय की बात कहना चाहता है। शताब्दियों के विस्तृत जीवन को वह एक दृष्टि से देखता है और घटना से संकुलित जीवन के उस क्रम को ग्रहण करता है, जिसमें वह उसे सत्य-अनुबंधित कर सके। वह रत्न कणिकाओं की भाँति घटनाओं का सञ्चयन करता है और जीवन के अलंकार में उन्हें नन्ददास की भाँति जड़ता है। वह एक सी घटनाओं को ही चुने, ऐसी बात नहीं। वह विषम और विपरीत घटनाओं को भी एकत्र करता है किन्तु उतने ही अनुपातमें, जितने से जीवन की गतिशीलता लक्षित हो सके। वह सत्य को निखारने के लिये तमस् का प्रयोग करता है। सुख को स्पष्ट करने के लिये दुःख की विभीषका दिखलाता है और इस विरोध में ही वह जीवन के सत्य को मुखरित करता है। दूसरे शब्दों में वह घटनाओं के क्रम की व्यवस्था करता है और वर्षों का इतिहास दिनों में कह डालता है। यदि यह कहा जाय कि वह जीवन-कानन को नन्दन-कानन में परिवर्तित करता है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रत्येक देश के साहित्यकारों ने अपनी-अपनी रुचि से साहित्य में जीवन-क्रम का निर्धारण किया है, किन्तु उस क्रम को संतुलित करने का प्रयत्न सभी साहित्यों में हुआ है। यह संतुलन चाहे यथार्थ की दृष्टि से हो, चाहे आदर्श की दृष्टि से, निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयत्न सभी ने किया है। भारतीय साहित्य में जीवन का संतुलन सदैव ही सुखान्त दृष्टिकोण से हुआ है और उसका कारण यही था कि ये साहित्यकार घटनाओं के पार्श्व में ऐसे मनोविज्ञान का स्पन्दन करना चाहते थे, जो विजयिनी मानवता को चिरन्तन जीवन प्रदान कर सके। सत् और असत् के द्वन्द्व में उन्होंने यद्यपि असत् को बीस

भुजाएँ प्रदान की और सत् को केवल मात्र दो, तथापि उस वैषम्य को संतुलित करने के लिये जिस मात्रा में असत् में अविवेक था, उसकी दसगुनी मात्रा में सत् में विवेक था, इसलिये संभवतः राम दशरथ के पुत्र थे। इस प्रकार असत् और सत् का अनुपात लोक कल्याण के लिये अभीप्सित हो गया। शताधिक प्रवृत्तियों को अंकुश में रखने के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पर्याप्त है। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में सौ कौरवों को पराजित करने के लिये पाँच पाँडव पर्याप्त थे। जीवन की इस व्याख्या में जो संघर्षमयी परिस्थितियाँ हैं, वे सत्य संदेश की वाहिका बन सकें, यही दृष्टिकोण साहित्यकार के सामने हैं, इसलिये जीवन चित्रण में साहित्य एक ऐसा संतुलन स्थापित करेगा, जिससे कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सत्य मुखरित हो सके।

इस विषय में जब शैली पद्धति से विचार किया जाता है, तो साहित्य के कलात्मक रूप पर सहसा दृष्टि चली जाती है। यह कलात्मकता रस अलंकार और छन्द में ही नहीं है, वरन् साहित्य के अनेक रूपों में भी है और इन रूपों के अन्तर्गत भाव-योजना में भी। महाकवि सूरदास ने भृङ्गार, शान्त और अद्भुत रसों में कृष्ण का किशोर जीवन चित्रित किया है। उस चित्रण में पूतना वध से लेकर गोवर्धन धारण तक कृष्ण की अनेकानेक लीलायें अंकित हैं। कृष्ण की ये लीलायें अपनी रूपरेखा में विविध दृष्टियों से निरूपित की गई हैं। इन लीलाओं में जहाँ एक ओर असुरों का वध है तथा अनेक उत्पातों से गोकुल की रक्षा है, वहाँ समस्त ब्रज की सुरक्षा का प्रयत्न भी लक्षित होता है और माखन चोरी लीला से लेकर रास-लीला तक कृष्ण कितने रूपों में गोकुल को प्रिय थे, यह स्पष्ट करने का प्रयत्न भी 'सूरसागर' में देखा जा सकता है। कृष्ण के इतने विविध चित्रों में जो साध्य है, वह एकमात्र पुष्टि भक्ति है, जैसे छोटे बड़े मोतियों के दानों में एक कौशेय सूत्र वर्तमान हो। अनेकानेक राग रागिनियों में जो भक्ति का सरगम है, उसका स्थायी एकमात्र कृष्ण है।

विस्तार की परिधि—जो विषय साहित्य का निर्माण करते हैं, वे सामान्य रूप से समस्त जीवन की चित्रशाला के चित्र हैं, जिनमें सत्य की सीधी और कल्पना कीवर्तुल रेखाएँ हैं। यह जीवन जो समस्त विश्व का चेतन रूप है, भाषा और भावों से स्पन्दित होता है और जिस तथ्य को ग्रहण करता है, उसे आदि से अन्त तक सर्जीव कर देता है, परन्तु उसकी कोई न कोई सीमा निर्धारित करनी होगी। जिस प्रकार अनादि और अनन्त ब्रह्म 'नेति नेति' होकर भी अवतारों में सीमित हो जाता है, उसी प्रकार साहित्य भी अपनी व्यंजना में विश्वजनीन होकर किन्हीं मर्यादित क्षेत्रों में अवतरित हो जाता है। साहित्य मानवता को केन्द्र मान कर जब अपनी परिधि खींचता है, तो वह परिधि क्षितिज की परिधि से बड़ी होकर भी ग्रह कक्षाओं की भाँति अपनी प्रगतिशीलता में अविचल रहती है।

विश्वजनीनता के अनेक पार्श्व हैं। चेतना, अन्तर्चेतना और उपचेतना की अनेकानेक कोटियाँ हैं। इनके असीम आकाश एक दूसरे से मिलकर भी अलग-अलग हैं और जब साहित्य का विहंग भावना और कल्पना के पंखों से इन असीम आकाशों में विहार करता है, तब उसका आश्रय स्थल मानव मन ही होता है।
सूरदास के :—

‘जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवे ।’

की भाँति मानव मन से अलग नहीं हो सकता क्योंकि हमने इस पिंड में ही ब्रह्मांड माना है और एक अणु में भी सौर जगत के दर्शन किये हैं। इस प्रकार विश्वजनीन होते हुये भी साहित्य मानव-मन की चेतना, अन्तर्चेतना और उपचेतना को अपना मार्ग बना कर चलता है।

हिन्दी काव्य साहित्य से इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कामायनी के रहस्य सर्ग में जब श्रद्धा मनु का पथ-प्रदर्शन करती हुई हिम शृङ्गों पर चढ़ती चली जाती है, तो आकाश में मनु

को तीन नक्षत्र-लोक दृष्टिगत होते हैं, ये इच्छा, कर्म और ज्ञान के तीन लोक हैं। इनका परिचय महाकवि ने विस्तार के साथ दिया है जिसकी मुख्य पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

इच्छा-लोक

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर,
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।
शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गंध की
पार-दर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन-उपासना,
माया-राज्य यही परिपाटी
पास बिछाकर जीव फाँसना।
भाव-भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य पाप की,
ढलते सब स्वभाव विकृति बन
गल ज्वाला से मधुर-ताप की।

कर्म-लोक

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक बन नियति प्रेरणा,
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नहीं एषणा।

श्रममय कोलाहल पीडन-मय
 विकल प्रवर्तन महामन्त्र का,
 क्षण भर भी विश्राम नहीं है
 प्राण दास है क्रिया-तंत्र का ।

बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
 अपराधों की स्वीकृति बनती,
 अंध प्रेरणा से परिचालित
 कर्त्ता में करते निज गिनती ।
 प्राण - तत्व की सघन साधना
 जल हिम-उपल यहाँ है बनता,
 प्यासे घायल हो जल जाते
 मर-मर कर जीते ही बनता ।

ज्ञान-लोक

प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है,
 सुख-दुख से है उदासीनता
 यहाँ न्याय निर्मम चलता है
 बुद्धि-चक्र जिसमें न दीनता ।
 अस्ति-नास्ति का भेद निरंकुश
 करते ये अणु तर्क युक्ति से,
 ये निस्संग किन्तु कर लेते
 कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से ।

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
 तृप्ति नहीं कर भेद बाँटती,
 बुद्धि विभूति सकल सिकता सी
 प्यास लगी है ओस चाटती ।
 यहाँ अछूत रहा जीवन-रस
 छुओ मत संचित होने दो ।

बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा मृषा वंचित होने दो ।

ये तीनों लोक अपनी विशेषताओं में परिभ्रमण करते हुए अलग अलग हैं । इनका केन्द्रवती बिन्दु मनु (अर्थात् मन) है । इनमें सामञ्जस्य और समरसता उसी समय आती है, जब श्रद्धा के अधरों से स्मिति की किरण निकल कर इन तीनों लोकों को आलोकित करती हुई परस्पर सम्बद्ध कर देती है :—

महा ज्योति रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें ।
नीचे ऊपर लचकीली वह
विषम वायु में धधक रही-सी,
महाशून्य में ज्वाल सुनहली
सबको कहती 'नहीं' 'नहीं'-सी ।

उपचेतना, अन्तर्चेतना और चेतना जैसे इन्हीं तीन लोकों के आकाश हैं, जिनमें सम रसता तभी सम्भव होती है, जब मनु (मन) की श्रद्धा (अन्तःकरण की प्रवृत्ति) अपनी सहज स्मिति से इन्हें सूत्रबद्ध कर देती है । यदि अन्तःकरण प्रवृत्तिशील है, तो सपनेहु बानर लंका जारी, की उपचेतना, 'प्रीति पुरातन लखे न कोई' की अन्तर्चेतना और 'जाइ समीप राम छवि देखी—' की चेतना साहित्य में सदैव ही सत्य हैं ।

साहित्य के रूप—साहित्य के विस्तार की परिधि पर विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि समस्त चेतनाओं का केन्द्र मानव-मन ही है । मन के धनुष पर इन्हीं चेतनाओं के बाण जब प्रक्षिप्त होते हैं तब वे सौन्दर्यमय सत्य को अपना लक्ष्य बनाते हैं ।

सामान्य जीवन और साहित्य गत जीवन में थोड़ा सा अन्तर है ।
कठोप निषद् में श्लोक है कि :—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-

स्तौसम्परीत्यविविनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽपि प्रेयसो वृणीते ।

प्रयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।

अर्थात् श्रेय और प्रेय सम्मिलित होकर मनुष्य के समीप आते हैं । धीर व्यक्ति उन दोनों पर विचार करते हुये उनका विभाजन करता है । विवेक सम्पन्न व्यक्तिय श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मन बुद्धि अपने योग-क्षेम के लिये प्रेय का वरण करता है । तात्पर्य यह है कि जीवन गत विवेक में प्रेय बहिष्कृत है किन्तु साहित्य गत विवेक में प्रेय बहिष्कृत नहीं है । प्रेय में जीवन गत भावनाओं की इतना उदात्त धरातल दिया जाता है कि वह श्रेय का समकक्ष हो जाता है । इस भाँति साहित्य में उदात्त दृष्टिकोण ही सब कुछ है, जिसके समक्ष श्रेय और प्रेय अपनी परिस्थितिगत सीमाओं का निर्धारण करते हैं ।

साहित्य का सौर मंडल—अनुभूति की लहरों की भाँति साहित्य का सृजन होता है, इसमें जो कलात्मक दृष्टिकोण होता है, वह सीधी रेखाओं में नहीं चलता । सीधी रेखाओं से चित्र ही कब बना है, ये रेखाएँ वर्तुलाकार है जो असीमता का संकेत करती हैं । वर्तुल रेखा में गति भी है, क्योंकि अनन्त काल विश्व का परिभ्रमण उसे वर्तुलता का वरदान ही देता रहा है । आकाश, क्षितिज, नक्षत्र सूर्य, चन्द्र, इनमें कोई चौकोर नहीं है, यहाँ तक कि साहित्य उसकी लहर किनारे, किनारों पर उगने वाले पेड़ उनके फूल और पत्तियाँ अभी वर्तुल रेखाओं में है, जो अविराम गति से समय के साथ प्रगतिशील है । सीधी रेखा तो मानव की कृति है, जिसमें उसने अपने सीधे टेढ़े-मेढ़े भवन बनाये हैं, जिससे यह विशाल अकाश सीमित हो गया है । असीम प्रगतिशीलता का द्योतक सदैव वर्तुल रेखाओं में

प्रादुर्भूत हुआ है। आदि नाद का प्रत्येक भाग वर्तुल है। इस भाँति साहित्य, जो शब्द और अर्थ से सम्बद्ध है, उसकी प्रेरणा भी वर्तुल होनी चाहिये। यह बात अलग है कि वह उस वर्तुल रेखा के किसी सूक्ष्म भाग को काटकर अन्वीक्षण यंत्र से सीधी रेखा की दिशा निर्धारित कर ली जाय किन्तु इस गतिक्रम में सीधी रेखा देखना सीमित हो जाने का लक्षण है। ये वर्तुल रेखाएँ न जाने कितनी दिशाओं से आती हैं और अपनी गतिशीलता में ग्रह कक्षाओं की भाँति चक्र बनाती हैं। यह चक्र एक दूसरे से मिलते हुये भी अलग-अलग हैं, इनकी स्वतन्त्र सत्ता भी है और नहीं भी है। इसी प्रकार विशिष्ट अनुभूतियों की ये रेखाएँ साहित्य के अन्तर्गत काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध आदि की विशिष्ट कक्षाएँ बनाती चलती हैं। यद्यपि ये अपनी कक्षा में स्वतन्त्र रहते हुये भी साहित्य के ही अन्तर्गत ही हैं। यदि मानव मन को सम्वेदना का सूर्य मान लिया जाय, तो काव्य, नाटक आदि अपने-अपने विस्तार और अपनी-अपनी कक्षा में परिभ्रमण करने वाले नक्षत्र ही हैं। जिस प्रकार सूर्य से सब नक्षत्रों को प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार काव्य नाटक उपन्यास आदि संवेदना के सूर्य से ही प्रकाश और ताप प्राप्त करते हैं।

प्राचीन रूपक के आधार पर प्रश्नोपनिषद् में प्राण का सर्वाश्रयत्व निरूपित किया गया है :—

अरा इव रचना भी प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यनूरषि समानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ।^१

अर्थात् जैसे रथचक्र की नाभि में अरे लगे रहते हैं इसी तरह ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण ये समस्त प्राणों में ही प्रतिष्ठित हैं। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि साहित्य-सूर्य रथ-नाभि में

१. प्रश्नोपनिषद्—द्वितीय प्रश्न, श्लोक ६

काव्य, नाटक, उपन्यास आदि की आर्यायें यथा स्थान स्थित हैं । इसी से मिलता हुआ रूपक कामायनी में रहस्य सर्ग के अन्तर्गत दिया हुआ है :—

भाव चक्र यह चला रही है,
इच्छा की रथ-नाभि घूमती ।
नव रस भरी आर्याँ अविरल,
चक्रवाल को चकित चूमती ।

प्रसाद का यह छन्द साहित्य पर पूर्ण रूप से घटित होता है क्योंकि कवि ने इसमें नव-रस का उल्लेख किया है ।

साहित्य की कोटियों का निर्धारण—साहित्य के विस्तार की जितनी भी सम्भावनाएँ हैं, इनमें चिच्छक्ति की अनुभूतियाँ प्रधान हैं । ये अनुभूतियाँ अपने संस्कारों के अनुसार विविध शैलियाँ, ग्रहण करती हैं । भारतीय दर्शन में जिस प्रकार संस्कारों की प्रवृत्ति आत्मा के अभिव्यक्तीकरण में सहायक होती हैं; इसी प्रकार साहित्यिक संस्कार अपनी विशिष्टता में विविध शैलियों के संपोषक सिद्ध होते हैं । स्थूल उदाहरण देने के लिये यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार जीवनगत संस्कार जन्मान्तर में विविध योनियों का निर्णय करते हैं, इसी प्रकार साहित्य की विशिष्ट संवेदनाएँ अपने अभिव्यक्तीकरण में विशाल साहित्यिक रूपों का निर्माण करती हैं, जिनमें काव्य नाटकादि रूप परिगणित किये जा सकते हैं । यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि साहित्य के विविध पार्श्वों का प्रभावपूर्ण चित्रण किसी एक ही शैली में होना संभव नहीं है । भाव पक्ष, जिज्ञासा पक्ष, अनुरञ्जन पक्ष या विवेचन पक्ष जब अपनी एक भव्य प्रमुख अनुभूति में अवतरित होना चाहता है तो उसके लिये जो रूप निर्धारित होंगे वे क्रम से काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध या समालोचना संज्ञा से अभिहित किये जा सकेंगे । इन सभी रूपों में साहित्य की

श्री सूक्ष्म होकर वैसी ही पवित्र और प्रभावोत्पादक होगी, जैसे महामेष के अन्तर्गत स्वाति की वृद्ध ।

कविता—कविता साहित्य की आदि शक्ति है । साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा कविता की अभिव्यक्ति सर्व प्रथम हुई । यह साहित्य कानन की प्रथम कलिका है । जिसकी सुरभि उत्तरोत्तर तीव्र होती है और इसी सुरभि की शक्ति में सम्भवतः साहित्य के अन्य रूपों के मुकलित होने की भूमिका है । आत्मा की मूढ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है । जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य बिखर उठता है, उस समय कवि अपने-अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है । इस समय क्षण-क्षण 'मैं' में और 'सब' में विपर्यय होता है मैं चिरन्तन भावनाओं में सबका रूप धारण करता है और भावना के किसी विशेष दृष्टि बिन्दु में 'सब' में 'मैं' आकर संकुचित हो जाता है । तब व्यक्तिगत भावनाएँ विश्व की समस्त गति में अवाध रूप से बहती हैं और समस्त सृष्टि का संगीत एक कण के कम्पन में स्पन्दित होने लगता है । जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति में विलीन कर देता है उस समय सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी में फूट पड़ते हैं । वह अपनी भावनाओं के भीतर किसी प्रजापति को देखता है, और क्षण-क्षण में संसार का निर्माण और विनाश करता है । रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं, दृश्य और अदृश्य उसे अपने अपने संगीत से ओत-प्रोत कर देते हैं । समस्त जगत् हृदय में गतिशीलता भरकर तिरोहित हो जाता है उसी गति-शीलता का नाम कविता है ।

यह कविता की व्याख्या है, परिभाषा नहीं । परिभाषा के लिए हमें काव्य से श्रेष्ठतर सौन्दर्य कोटि की कल्पना करनी पड़ेगी और उस कोटि के अन्तर्गत काव्य के समकक्ष अन्य रूपों से काव्य की

विशेषता स्पष्ट करनी होगी। कठिनाई यह है कि काव्य के ऊपर कोई ऐसी सौन्दर्यकोटि है ही नहीं। काव्य ही अपने व्यापक रूप में अनेक सौन्दर्य कोटियाँ निर्धारित करता है। और जब काव्य अपने उदात्त रूप में ब्रह्मानन्द से समकक्ष होता है, तो उसे ब्रह्म की परिभाषा देना कठिन है, उसी प्रकार काव्य की परिभाषा भी देना कठिन होगा। 'केनोपनिषद्' के द्वितीय खण्ड में ब्रह्मज्ञान की अनिवर्चनीयता का उल्लेख है।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।

द्यानस्तद्वेद तद्वेदनो न वेदेति वेद च ।

यस्यामतं तस्य महं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञानं विज्ञानतां विज्ञातम् विज्ञानताम् ।^१

अर्थात्, न तो मैं यह मानता हूँ कि मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता, अतः मैं उसे जानता भी हूँ और न जानता ही हूँ। इस भाँति जानता है, वही जानता है। इस भाँति ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है, उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है, वह उसे अज्ञात है, क्योंकि वह जानने वालों को बिना जाना हुआ है और न जानने वालों का जाना हुआ है। इस प्रकार कविता की परिभाषा पूर्ण रूप से जानी जा सकती है, इसमें सन्देह है। इसीलिए कविता की व्याख्या तो हो सकती है, किन्तु उसकी परिभाषा देना हमारी अनधिकार चेष्टा है।

कविता के इतिहास में प्रथम कविता महर्षि वाल्मीकि के कण्ठ से क्रौञ्च-बध के विषाद से नेत्र की अश्रु-धारा के साथ निकली कही जाती है :—

१ केनोपनिषद्—द्वितीय खंड, श्लोक २, ३ ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।

यत्कौंच मिथुनादेकं वधी काममोहितम् ।

किन्तु संसार में कविता की सृष्टि उस समय आरम्भ हो गयी होगी, जब उल्लास या करुणा आकर्षण या आत्म-समर्पण की भावना ने हृदय में ऐसी विह्वलता भर दी होगी, जिसे हृदय अपनी सीमा में सँभाल न सका होगा और काव्य की भावनाएँ भाषा में छलक पड़ी होगी। महाकवि तुलसीदास ने अपने राम चरित मानस में कविता के आविर्भाव के सम्बन्ध में कुछ सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं।

हृदय सिंधु मति धीर समाना । स्वाती सारद कहहिं सुजाना ।

जो बरसै बर बारि बिचारु । होंहि कवित मुक्तामनि चारु ।

हृदय तो सिन्धु के समान है और मति या कविता की भावना सीप के समान है, जो हृदय सागर में डूबी हुई है। काव्य की प्रतिभा या सरस्वती नक्षत्र के समान है। यदि इस अवसर पर सुन्दर विचारों का जल बरस जाय तो भावनाओं की सीपी में कविता का मोती निर्मित हो जाता है। सीप से मोती का निर्माण एक अवसर विशेष की बात है और यदि कहीं सौभाग्य से ऐसा अवसर आ जाय, तभी कविता की सृष्टि हो सकती है। श्रेष्ठ कविता भी संयोग से ही बनती है, वह भी प्रतिभा के अवसर विशेष पर जागरित होने पर भी सम्भव होता है। इस भाँति कविता एक दैवी वरदान है जो किसी संयोग से ही व्यक्ति विशेष को मिलता है। कविता जीवन का निर्बाध और अकृत्रिम सौन्दर्य-बोध है, उसके द्वारा मानव ऐसे अनवरत और अविरल आनन्द का अनुभव करता है जो समय की गति से धूमिल नहीं पड़ता। इसमें पूर्व चिन्तन की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार हास्य और रुदन की प्रक्रिया किसी नियम पर आधारित नहीं है। हँसी की कली प्रस्फुटित होने के पूर्व यह नहीं देखती कि उसे किस रूप में प्रस्फुटित होना है, जिस प्रकार रुदन के मोती किसी

निश्चित संख्या में नहीं करते, उसी प्रकार कविता प्रयास पूर्वक निर्मित नहीं होती; वह आनन्द की धारा में पुष्प की भाँति लहरों की गोद में बह जाती है।

प्राचीन आचार्यों में भरत, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्द्धन, भोज, मम्मट, वाग्भट्ट, जयदेव, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने काव्य के रूप को परखने की चेष्टा विविध दृष्टिकोणों से की है। आचार्य भरत ने मर्मस्पर्शी ललित पदावली को, दण्डी ने संक्षिप्त वाक्य को, रुद्रट ने शब्द और उसमें निहित अर्थ के युग्म को, वामन ने गुणों और अलंकारों से संस्कृत शब्द और अर्थ के रूप को, आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि मयी अर्थ निष्पत्ति को, भोज ने निर्दोष अलंकार मय शब्दावली को, मम्मट ने शब्द और अर्थ की संयोजना को, वाग्भट्ट ने गुण अलंकार रीति और रस सहित तथा दोष रहित शब्द और अर्थ को, जयदेव ने लक्षण-रीति-रस-अलंकार और वृत्ति, इन सब से युक्त शब्द योजना को, विश्वनाथ ने रस को और पण्डितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्य पूर्ण अर्थ-वर्णन को काव्य माना।

काव्य की इस नाना दृष्टिमयी विवेचना में तीन तत्त्व निहित ज्ञात होते हैं :—पहला शब्द और अर्थ का ललित युग्म, दूसरा चमत्कार उत्पन्न करने वाली व्यंजना और तीसरा रस की अनिवर्चनीय अलौकिक भाव-भूमि।

इसमें संदेह नहीं कि शब्द और अर्थ का तादात्म्य जब किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति करने प्रयुक्त होता है तो उसमें आनन्द की सृष्टि अनिवार्य है। जिस अनुपात में यह तादात्म्य होगा, इसी अनुपात में आनन्द की सृष्टि होगी। कठिनाई केवल तादात्म्य के उपस्थित करने में है। यह स्पष्ट है कि अनुभूति-जगत् इतना विस्तृत है कि उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति कभी शब्द द्वारा हो सकेगी, इसमें संदेह है और मन की गति जितनी शीघ्रता अर्थ के विराट् विश्व निर्मित करती है, उतनी शीघ्रता भाषा के सशक्त

उपादान द्वारा सम्भव नहीं है। इसी समस्या को अनुभव करते हुए मैंने एक स्थान पर लिखा था :—

शब्दों के अधखुले द्वार से,
 अभिलाषायें निकल न पाती।
 उच्छ्वासो के लघु-लघु पथ पर,
 इच्छाएँ चल कर थक जाती।
 आह स्वप्न संकेतो से मैं कैसे,
 कैसे तुम को पास बुलाऊ ?

और भी :—

प्रेम की इस अग्नि से,
 क्यों घूम सी उठती निराशा।
 क्यों हृदय की भावना को,
 मिल सकी अब तक न भाषा।

अन्तर्जगत् अपनी संपूर्ण परिधि में शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सका है, इसमें संदेह है। भावनाएँ अपनी गहराई में अथाह हैं और शब्द किनारे पर बैठे हुये पथिक हैं, जो ऊपर सतह पर तैरते हुये उस पार निकल जाते हैं। जिस साधन में अपने शब्दों को अर्थ में डुबाने को जितनी अधिक क्षमता है, उतने ही अधिक रूप में वह शब्दों में काव्य की सृष्टि कर सकता है। इसके साथ ही अर्थ की व्याप्ति जिन अधिक से अधिक हो सकती है उनका चयन कवि की अन्तर्दृष्टि का सूचक हुआ करता है। उदाहरण के लिये तुलसीदास जी ने एक सवैया लिखा :—

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मंदिर माही।
 गावत गीत सबै मिल सुन्दर वेद जुवा मिलि विप्र पढ़ाही।
 राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परिछाहीं।
 याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाही।
 यों तो इस ललित पदावली के सभी शब्द अर्थ के अपार

विस्तार में प्रयुक्त हुये हैं किन्तु रत्न की भाँति जड़ा हुआ शब्द यहाँ 'निहारति' है। 'निहारति' में अनिमेर अनुराग की दृष्टि है जो अन्य किसी शब्द द्वारा संभव नहीं थी। 'निहारति' के समान अनेक शब्द हैं, 'लखि' 'देखि' 'विलोकि' 'अवलोकि' 'चितै' 'निरखि' आदि। और तुलसी-दास ने इन सब शब्दों का प्रयोग एक ही क्रिया का द्योतन करते हुये भिन्न दृष्टियों के अनुसार किया है। जैसे :—

- १—धुआँ देखि खर-दूषन केरा।
- २—लखी नरेश बात सब साँची।
- ३—जह विलोकि मृग सावक नैनी।
- ४—गावहिं छवि अवलोकि सहेली।
- ५—चितै जानकी लखन तन।
- ६—नीके निरखि नैन भरि शोभा।

इस भाँति परिस्थिति विशेष के अनुसार 'देखने' की क्रिया का वास्तविक निरूपण करने की कुशलता तुलसीदास में है। शब्द चयन करने की प्रतिभा अधिक से अधिक अर्थ की अनुभूति कराने में जब सफल होती है, तभी हमें जीवन दर्शन की प्राप्ति होती है और इस क्रिया जनित आनन्द में वाक्य की स्थिति होती है।

काव्य की परिभाषा में दूसरा तत्व चमत्कार है जो व्यंजना की प्रक्रिया में उपलब्ध होता है। यह व्यंजना शब्द की बहुत बड़ी शक्ति मानी गयी है इसमें सन्निहितता के साथ शैली लाघव भी है। उदाहरण के लिये सूरदास जी का प्रस्तुत पद लीजिये :—

सखी री श्याम सबै इकसार।
 मीठे बचन सुहाये बोलत अन्तर जारन हार।
 भँवर कुरंग काम अरु कोकिल कपटिन की चटसार।
 सुनहु सखी री दोष न काहु जो विधि लिख्यौ लिलार।
 सूरदास सरिता सर पोषत चातक करत पुकार।



सुन्दर और असुन्दर

समय के अनन्त प्रवाह में जीवन ने बहुत कुछ देखा और सुना है । शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक यह मनुष्य अपनी स्मृति में अनेकानेक चित्र सजाता आया है और जिन चित्रों से उसे मोह है, उनमें उसने अपनी कल्पना की तूलिका से गहरे रंग भर लिये हैं । जब यह कल्पना अनुभूति के समानान्तर चलती है, तब वह स्वस्थ होकर जीवन को राग रंजित करती है; जब उसके प्रतिकूल चलती है, तो वह स्वप्नों का रूप धारण करती है । इस भाँति अनुभूति और स्वस्थ कल्पना जीवन को व्यापक और विस्तृत बनाने में सदैव प्रयत्नशील रही हैं ।

जीवन की गति अनेक अनुभूतियों की चित्रशाला हो रही है । ये अनुभूतियाँ लहरों की भाँति आती हैं और चली जाती हैं किन्तु जो लहर सूर्य और चन्द्र की किरण पा जाती है, वह उषा या ज्योत्स्ना की सुहासिनी बनकर जल में विहार करती है और उसके सुनहले या रूपहले दुकूलों में सरिता का समस्त प्रवाह स्मृति की भाँति लीन हो जाता है । इसी प्रकार जब कोई अनुभूति जीवन की किसी मधुर स्मृति से जुड़ जाती है और किसी की मुस्कान की उषा या आँसू की ज्योत्स्ना उस पर पड़ जाती है, तो वह अनुभूति ही कला बन जाती

है और यही कला जीवन में राग की सृष्टि करती हुई चिरस्मरणीय बन जाती है ।

चाहे उपनिषद् हो, चाहे वेदान्त, चाहे 'ललित विस्तर' हो चाहे 'शुक्रनीति' अथवा वात्स्यायन का 'कामसूत्र' ही क्यों न हो, कला की पहिचान जीवन की ऐसी तरंग रही है जिसने मानवता की उज्ज्वल सतह पर सौन्दर्य का इतिहास अंकित कर दिया है ! चैतन्य पर माया का जो आवरण है उसमें कला की ज्योति सबसे प्रखर है । यह आवरण चैतन्य को धूमिल नहीं करता वरन चैतन्य को जड़ पर प्रसारित कर आत्म-संतोष की भूमिका प्रस्तुत करता है ।

इस भाँति कला जीवन की संचित स्मृति है जिसने अनेक साधनों से हमें सत्य की भाँकी दिखलाई है । वह साधन चाहे आकाश का वरदान शब्द या नाद हो, चाहे जल का वरदान तरल रंग हो, चाहे पृथ्वी का वरदान पाषाण हो । यह सत्य जब विशृङ्खलता की भाँडियों के बीच से फूल की भाँति विकसित हो उठता है तब उसे कला का कमनीय कलेवर मिलता है । पाशव-वृत्तियों की हिंसा भरी भूख जब तृप्त हो जाती है तब संतोष के आसन पर जो संत्ता है, वहीं तो कला है । आवश्यकता की ऊँचाई को पार कर जब हम भावना की चोटी पर पहुँचते हैं, तब हमारे सामने जीवन का जो दृश्य भूल जाता है, उसमें सौंदर्य का स्वर्ग निवास करता है ।

पूर्व और पश्चिम दोनों ही दृष्टियों ने 'कला' को पहले विशेष कौशल से समुत्पन्न 'कार्य' के रूप में ही देखा, उसका स्वाभाविक जीवन के अभिव्यक्तीकरण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था । शुक्रनीति की चौंसठ और प्रबंधकोष की बहत्तर कलाएँ, काश्मीर-पंडित क्षेमेन्द्र की दो सौ आठ प्रमुख कलाएँ तथा भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक 'साहित्य संगीत कला विहीन' में कला की विशिष्ट स्थिति इस बात का संकेत करती हैं कि कला अपने आप में जीवन की प्रयत्नसाध्य कुशल अभिव्यक्ति ही रही । इसी प्रकार प्राचीन लैटिन

में 'आर्स' (ars) का अर्थ ही कारीगरी है। बाद में उसका अर्थ शास्त्र हो गया जैसे व्याकरण या ज्योतिष। सत्रहवीं शताब्दी में जब सौंदर्य-भावना और सौंदर्य-रहस्य का विकास हुआ तब कला पर से शास्त्र का आवरण हटता हुआ दिखलाई पड़ा। अठ्ठाहरवीं शताब्दी ने 'कला' की विशिष्टता स्थापित की और उन्नीसवीं शताब्दी में 'कला कला के लिये' सिद्धान्त प्रचारित हुआ जब 'उपयोगी कला' और 'ललित कला' के बीच एक विभाजक रेखा खींची गई। इस भाँति कला का संबंध क्रमशः सौंदर्य भावना के समीप आता गया और वह धीरे-धीरे एक मात्र ललित भाव मूलक ही निर्धारित हुआ। कला विकास में जब 'उपयोग' की भावना का आधिपत्य हुआ है, तभी कला की सौंदर्यभावना ने विद्रोह किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब व्यवसाय के लिये कला का प्रयोग हीने लगातभी 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त वायुमंडल में गूँजा और यह समझा गया कि कला का अस्तित्व केवल अपने लिये ही है। मानव की रागात्मक भावना के परितोष के अतिरिक्त उसका दूसरा ध्येय ही नहीं है। इसी दृष्टिकोण को अपने समझ रखते हुये यह स्पष्ट किया जा सकता है कि कला के कक्ष में क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर है।

जहाँ तक सुन्दरता का संबंध है, वह कला के लिये अनिवार्य है। रस में स्थायी भाव की तरह, वह कला में आदि से अंत तक वर्तमान है। यह सुन्दरता दो प्रकार की है, बाह्य और अंतरंग। यों तो सुन्दरता का संबंध एक मात्र मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्ति से है...जिसमें उसकी मानसिक प्रक्रिया सुख और संतोष के सम्मिलित भाव बिन्दु पर जाकर समाप्त होती है, किन्तु मानसिक प्रक्रिया को उत्तेजना देने वाली परिस्थितियाँ बाह्य भी हो सकती हैं। बाह्य परिस्थितियाँ इन्द्रियों को स्पर्श करती हैं और इंद्रियाँ जैसे एक नवीन आलोक से जगमगा उठती हैं। यह जगमगाहट यदि इंद्रियों तक ही सीमित रह गई और उसका प्रतिफलन यदि मन की मादकता में ही

रह गया तो वह कला बाह्य सौंदर्य में सीमित सामान्य कोटि की ही समझी जायगी । यदि बाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक प्रक्रिया इन्द्रियों को पार कर मनुष्य के अंतःकरण को भी जगमगा सकी और उसकी समस्त भावनाएँ परिस्थितियों की परिधि से उठ कर किसी दिव्य आनन्द में लीन हो सकीं तो वह उत्कृष्ट कोटि की कलात्मक अनुभूति होगी जो भीतरी सौंदर्य से उत्पन्न है । यह कला चाहे काव्य में हो, या संगीत में, चित्र में हो, या मूर्ति में ।

सौन्दर्य के आश्रय से कला जीवन का मूल्यांकन करने में समर्थ होती है । दूसरी ओर जीवन भी नये-नये मापदंडों को लेकर कला की कोटियाँ निर्धारित करता है । इस भाँति जीवन और कला का अन्योन्याश्रित संबंध है, लेकिन शर्त यही है कि न तो जीवन अस्वाभाविक हो सके और न कला में ही कृत्रिमता का कुत्सित कीट प्रवेश कर सके । कला अपनी प्रगति में सबसे पहला कार्य यही करती है कि वह जीवन की किसी अनुभूति को ग्रहण करती है, यह अनुभूति सदैव किसी संवेदना से अनुप्राणित होती है । इस दिव्य क्षण को वह सौन्दर्य के साँचे में ढाल लेती है । इसके अनन्तर वह उसे अन्य अप्रधान और अनावश्यक परिस्थितियों से अलग करती है और उस एकांत अनुभूति को शब्द से, नाद से, रंग से या टाँकी से, काव्य, संगीत, चित्र या मूर्तियों में घनीभूत कर देती है । तब वह अनुभूति इस प्रकार खिल उठती है जैसे किसी वृन्त पर फूल, जिसकी मोहकता प्राणों में भी प्रवेश कर जाती है । स्वाभाविकता और सौन्दर्य के पार्श्व में सजी हुई यह कृति कला की अभिव्यक्ति कहलाती है । इस भाँति सौन्दर्यमयी अनुभूति की पहिचान, उसकी स्पष्टता और उसकी घनीभूत व्यंजना कला के निर्माण की प्रक्रियाएँ हैं ।

दूसरी ओर जीवन अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये कला को ही अपना माध्यम बनाना चाहता है । 'उपयोगितावाद' के लिए

जीवन अन्य माध्यम खोजने लगा है। अर्थ शास्त्र और समाज शास्त्र इस उपयोगितावाद की प्रेरणा से ही समृद्ध हुए हैं जीवन अपनी ललित अनुभूतियों के लिये कला को ही उचित कसौटी समझने लगा है। सभ्यता के बदलते हुये रुचि वैचित्र्य ने काव्य के लिये नयी छन्दोबद्धता जो केवल नाद पर ही आधारित है, अथवा छन्दों से पूर्ण मुक्ति स्वीकार की है, भावना के सौन्दर्य की ही एकान्त अभिव्यक्ति काव्य की संज्ञा बन रही है। यही दृष्टि चित्र की रेखाओं और रंगों में भी आने लगी है, जहाँ विश्वकवि रवीन्द्र के चित्र अपनी नई कला कोटि निर्धारित करते हैं। संगीत के स्वर लोकगीतों की सहज प्रगति में मुखरित होने लगे हैं और ग्रामों से निकल कर चित्रपट के माध्यम से हमारे सामने आने लगे हैं। यह अवश्य है कि इनमें संशोधन और परिवर्द्धन होगा तथा ये सौन्दर्य की नवीन अनुभूतियों को लेकर जीवन की गहराइयों में प्रवेश करेंगे। लेकिन यह सत्य है कि कला का विकास नित्य नई मान्यताओं से होगा और उसकी प्रगति इसी सत्य की सूचना देने जा रही है कि जीवन अधिक से अधिक मात्रा में निर्द्वन्द्व, स्वाभाविक, सहज और प्रगतिशील हो और जो परंपराएँ अपना महत्व खो बैठी हैं उन्हें कला के क्षेत्र से निर्वासित कर दिया जाय।

इसी निर्वासन में कला के अन्तर्गत असुन्दर की बात आती है। सामान्य रूप से यह असुन्दर तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली कोटि तो तब मानी जानी चाहिये जब सौन्दर्य अपना अनुपात खो देता है। ऐसी स्थिति में वह सौन्दर्य परिहासोन्मुख हो जाता है। कोई स्त्री यदि अपने एक ही नेत्र में अंजन आँजे या कुंकुम बिन्दु मस्तक पर भौंहों के मध्य में न लगा कर नाक की नोक पर लगा दे तो सौन्दर्य विकृति का पर्याय बन जायगा। इसी प्रकार कवि केशव की रामचन्द्रिका में अलंकारों की इतनी अधिकता है कि कविता का सहज रूप विकृत हो गया है। पद-पद पर छंदों

में परिवर्तन और एक ही पंक्ति में तीन या चार अलंकार काव्य की सहज आनन्दानुभूति में बाधा उपस्थित करते हैं। काव्य में अलंकार एक पर दूसरे ऐसे लदे हुये हैं जैसे कोई महाशय सितम्बर के महीने में ही बनियान, कमीज, पुलोवर, कोट तथा चैस्टर पहने हैं और उसके ऊपर उन्होंने कम्बल भी ओढ़ रक्खा है।

असुन्दर की दूसरी कोटि वह है जब सौन्दर्य का उद्गम अनुराग से न होकर ईर्ष्या अथवा द्वेष से हो। यह समाचार प्रायः पढ़ने को मिलता है कि अमुक ईर्ष्यालु व्यक्ति ने अपनी सुन्दर स्त्री की हत्या कर दी। जीवन की सहज अनुभूति इससे अधिक क्या विकृत होगी ? जिस कविता में हम सांप्रदायिकता के आवेश में आकर ईर्ष्या या द्वेष से किसी की निन्दा करते हैं, क्या उसे हम 'कला' की संज्ञा दे सकते हैं ? प्रतिहिंसा से पूर्ण कला कला नहीं है। वह आँधी की तरह उठती है और अपने हाथ कंकड़ पत्थर या सूखे पत्ते ही बटोर सकती है। विश्व मैत्री या विश्व बंधुत्व ही कला का लक्षण है। तभी तो क्रौंच-मिथुन में से एक क्रौंच के वध पर आदि कवि के नेत्रों में जो अश्रु उमड़े थे, उसी में आदि कला का प्रतिबिम्ब था।

असुन्दर की तीसरी कोटि वह है, जब कला में वस्तुवाद इतना प्रखर हो जाता है कि वह वस्तुओं में निहित सौन्दर्य या रहस्य को समाप्त ही कर देता है। हमारी भूख जब उभरती है तो हम सेब पर उभरी हुई उषा की अरुणिमा और सिन्दूरी रंग की उलझ कर सुलझती हुई रेखाओं की शोभा नहीं देखते, उसे काट कर हज़म कर जाते हैं। उस समय हममें और बनमानुष में कोई अन्तर नहीं होता। इस बात को संभवतः कृष्ण के विरह में व्याकुल गोपियों ने सबसे अधिक समझा था जब उद्धव महाशय उन्हें ज्ञान और वैराग्य का उपदेश देने के लिये गोकुल गए थे। उद्धव गोपियों के प्राणों में बसे हुए प्रेम को मोह समझ बैठे। वे गोपियों के प्रेम की गहराई

और उसका रहस्य नहीं समझ सके। तभी तो गोपियों ने उनसे कहा....

हरि हमते कब हूँ न उदास ।

तुम सों प्रेम कथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास ।

जीवन के अन्तर्दृष्टा सूरदास ने इस असुन्दर परिस्थिति में भी सुन्दरता की सृष्टि कर दी है।

इस प्रकार सौन्दर्य की विकृति, विश्व मैत्री का अभाव एवं परिस्थिति जन्य व्यंजना के प्रति उपेक्षा, यही कला में 'असुन्दर' की सृष्टि करती हैं। सुन्दर और असुन्दर इन दोनों पक्षों के मध्य में भी एक स्थिति ऐसी हो सकती है जिसमें सुन्दर और असुन्दर अपने स्थान पर स्थित रहते हुये भी परस्पर बल ग्रहण करते हैं। ऐसी एक स्थिति महाकवि तुलसी के रामचरित मानस में है जहाँ 'अरण्यकाण्ड' में रावण के मनोभावों का चित्रण हुआ है। सीताहरण करते समय जब सीता ने रावण की निन्दा की तो उस स्थिति में रावण का चित्र उपस्थित करते हुये तुलसी ने लिखा !

सुनत वचन दस सीस रिसाना ।

मन महुँ चरन बंदि सुख माना ॥

इधर सीता से भर्त्सना सुन कर रावण क्रुद्ध भी हुआ और उसने सीता के चरणों की वन्दना भी की। ये दो विरोधी भाव एक साथ हुये इसका कारण यह था कि रावण यह निश्चय पहले ही कर चुका था कि !

सुर रंजन भंजन महि भारा ।

जौ भगवंत लीन्ह अवतारा ॥

तौ मैं जाय बैर हटि करऊँ ।

प्रभु सर ग्रान तजे भव तरऊँ ॥

रावण के ऊपरी व्यवहार में सीता 'सुमुखि' और 'सयानी' मात्र थीं, पर हृदय में वे जगन्माता थीं। रावण के समस्त चरित्र चित्रण

में इन दोनों विचार धाराओं का निर्वाह समान रूप से हुआ है ।
 'असुन्दर' और 'सुन्दर' दोनों ही एक मात्र में स्थिर हैं और रावण
 के इस दुहरे चित्रण में जहाँ धार्मिक भावना की रक्षा हुई है, वहाँ
 कलात्मक अभिव्यक्ति भी सुलभ हो सकी है ।

मैंने कला की सृष्टि जीवन के मनोविज्ञान में ही देखी है, और
 इस भाँति कला का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया है । चाहे कला
 किसी माध्यम से प्रकट हो या न हो, जीवन का मनोविज्ञान ही कला
 का सर्वप्रथम माध्यम है । इसीलिये कभी-कभी काव्य और संगीत
 या काव्य और चित्र परस्पर एक दूसरे से मिल जाते हैं । मीरा या
 महादेवी का काव्य संगीत का आश्रय लेकर हृदय को पवित्र कर
 देता है, इसी प्रकार प्रसाद का काव्य चित्रात्मकता लेकर सौन्दर्य
 की साकार सृष्टि करता है । श्रद्धा का यह चित्र कितना सजीव है :

नील परिधान बीच सुकुमार

खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,

खिला हो ज्यों बिजली का फूल

मेघ बन बीच गुलाबी रंग ।

अथवा,

घिर रहे थे घुंघराले बाल

अंस अवलंबित मुख के पास

नील घन शावक से सुकुमार,

सुधा भरने को बिधु के पास ।

संभव है, सभ्यता की प्रगति में सौन्दर्य की भावना अपनी दिशा
 बदले अथवा असुन्दर के प्रतीक संशोधित हों, किन्तु मेरा विश्वास
 है कि जब तक सौन्दर्य का संबंध, मानव की रागवृत्ति से है, तब तक
 कला का जीवन नित्य और शाश्वत है ।



शृंगार रस : संयोग पक्ष

मानव ने अपने विकास में सुख के न जाने कितने स्वर्ग बनाये लेकिन वे समय पाकर खिलौने की तरह टूट गए। अन्त में उसने आनन्द के सागर में अवगाहन किया और उससे वह जीवन का सारा श्रम खो सका और ऐसी शान्ति प्राप्त कर सका जो ध्रुव नक्षत्र की भाँति स्थिर रही। इसी आनन्द सागर में उसे कविता का मोती प्राप्त हुआ जिसके प्रत्येक पार्श्व में उसे जीवन को कान्ति अनेक रङ्गों में उतरती हुई दीख पड़ी।

सुख इन्द्रियों का विषय था जो जीवन गत परिस्थितियों के आवेग से घटता था, बढ़ता था और कभी विद्युत की तरह कौंध कर दुःख के काले बादल में विलीन हो जाता था। उस पर कौन विश्वास कर सकता है ! वह तो तितलियों की तरह परिस्थितियों के फूलों पर एक क्षण को बैठता है, फिर उड़ जाता है। उसमें वस्तु का मोह है, परिस्थिति सीमा है और व्यक्त का बन्धन है। लेकिन आनन्द इन्द्रियों का नहीं, अंतःकरण का विषय है। आशा की लता में श्रद्धा के फूल की भाँति है जो कभी नहीं मुरझाता। एक बार इस आनन्द को पाने के बाद फिर किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रहती। समस्त विचारों के विहंग एक स्थायी नीड़ बना लेते हैं। और उनके कंठों से अनाहत संगीत मुखरित होता रहता है।

वह संगीत सागर की भाँति सदा एक रस है, न घटता है, न बढ़ता है। सदा अपनी मर्यादा में स्थित है। सांसारिक दुःखों में भी यह आनन्द अक्षुण्ण रहता है जैसे काँटों से भरे हुये वृन्त पर गुलाब का फूल अपनी अनुपम शोभा और मादक सुगंध में लिखा रहता है। तब यह आनन्द वस्तु की सीमाओं को पार कर असीम हो जाता है और व्यष्टि का व्यापार न होकर समष्टि की संपत्ति हो जाता है। साधारणीकरण के साम्राज्य में ही इस आनन्द का अभिषेक होता है।

व्यष्टि की सीमा को पार करने पर इसमें अध्यात्मवाद की किरण फूटने लगती है। इस किरण को जब हम संसार के जीवन में प्रतिबिम्बित करते हैं तो इसी का नाम रस हो जाता है। इस भाँति रस में आनन्द की किरण है जो लोकव्यापी होते हुये भी लोकोत्तर है। यह रस जब जीवन में प्रवेश करता है तो काव्य का जन्म होता है, जब अध्यात्म में प्रवेश करता है तो रहस्यवाद का। इस भाँति काव्य और दर्शन एक ही वृन्त के दो फूल हैं और उस वृन्त का नाम है 'रस', जिसके कोड़ में आनन्द का सागर संचित है। इस प्रकार ब्रह्म की संज्ञा भी 'रसो वै सः' है।

'रस' के इस लोकोत्तर आनन्द से परिपूर्ण रूप पर भी विचार कर लेना चाहिये। सर्व प्रथम नाट्यशास्त्र के निर्माता आचार्य भरत ने रस का रूप निर्धारित करते हुये कहा है:.....

‘विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः ।’

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से ही रस निष्पत्ति होता है। भाव का परिचय देने वाला विभाव है जो आश्रय और उद्दीप्त करने की दृष्टि से आलंवन और उद्दीपन विभाव का रूप ग्रहण करता है। जिन क्रियायों से भाव का अनुभव या अनुमान, हो वे अनुभाव हैं। इसके तीन प्रकार हैं : सात्विक, कायिक और मानसिक। जो भाव बार-बार उत्पन्न होकर

संचरित होते हैं, वे संचारी भाव हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वाद वाले पदार्थों को एक साथ मिलाने से एक विशेष रस उत्पन्न होता है, जिसमें किसी एक पदार्थ का स्वाद नहीं होता किन्तु सबसे भिन्न एक विलक्षण स्वाद हो जाता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भाव के एकत्र होने से जो विशेष आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का नाम 'रस' है। भट्ट लोल्लट ने 'प्रतीयमान' शंकुक ने 'चर्व्यमाण', भट्टनायक ने 'भुज्यमान' और अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने 'आस्वादमान' के विशेषणों से 'रस' की अनुभूति का परिचय किया है। आनन्द वर्धनाचार्य और पंडित राज जगन्नाथ ने तो काव्य में रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। आचार्य भरत ने नाट्य शास्त्र में केवल आठ रस ही माने हैं:— शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। इनमें शृंगार रस का विशेष महत्व है। इसका कारण यह है कि शृंगार रस का स्थायी भाव रति है जो प्रेम का पर्याय होकर सर्व-व्यापी है और जिसमें अधिक से अधिक संचारी भावों की स्थिति हो सकती है। पदमाकर ने इस 'रति' का परिचय अत्यन्त मनो-वैज्ञानिक और सरस ढंग से दिया है:—

सजन लगी है कहुँ कबहुँ सिंगारन को,

तजन लगी है कहुँ ऐसे वैस वारी की।

चखन लगी है कछु चाह 'पदमाकर' त्यों

लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी की।

सुन्दर गोविन्द गुन गनन लगी है कछु,

सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।

पगन लगी है लगी लगन हियें सों नेकु,

लगन लगी है कछु पी की, प्राणप्यारी की ॥

आचार्य भरत ने रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग की बात कही है। यह संयोग क्या है?

विविध आचार्यों ने इस संयोग को ध्वनि, सम्यक् योग, भावनाविकार ज्ञान, संबंध अनुभाव सम्मिलन, चमत्कार पूर्ण आदि अर्थ में लेकर रस की निष्पत्ति मानी है। मैं समझता हूँ कि यह 'संयोग' सानुपातिक अनुभव जन्म स्थिति का ही द्योतक है। यह सानुपातिक अनुभाव जन्म स्थिति क्या है ? किसी भी रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव वर्तमान रह सकते हैं किन्तु यदि वे पात्र और परिस्थिति की अपेक्षा से उपयुक्त मात्रा में इस प्रकार न हों कि उनका अनुभव किया जा सके तो रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिस्थिति की अनुभूति आवश्यक है। संयोग में भी वियोग की अनुभूति संभव है और वियोग में संयोग की अनुभूति। मीरांबाई के गिरिधर गोपाल सांसारिक परिस्थितियों की दृष्टि से उनसे दूर थे किन्तु मीरांबाई ने वियोग में भी संयोग की अनुभूति की। इसीलिये उन्होंने लिखा :—

जिनके पिया परदेस बसत हैं लिखि लिखि भेजत पाती।

मोरे पिया मो मांहि बसत हैं, गूँज करूँ दिन राती ॥

इस प्रकार रसोद्रेकता में उपयुक्त मात्रा में अनुभूति तत्व की उपेक्षा है। यही पर्याप्त नहीं है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग हो जाय। इसीलिये तो महाकवि पदमाकर ने अनुभूति तत्व को ध्यान में रहते हुये लिखा है कि...

सुन्दर गोविन्द गुन गनन लगी है कछू,

सुनन लगी हैं बात बाँकुरे बिहारी का।

पगन लगी है लगी लगन हिये सों नेकु,

लगन लगी है कछू पी की, प्राण प्यारी की ॥

'कछू' शब्द का प्रयोग कर महाकवि पदमाकर ने मनोविज्ञान की क्रिष्क और व्रीडा का संकेत कर अनुभूति ज्ञात को संपुष्ट कर दिया है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से जो भाव स्थिर होता है, वही स्थायी भाव है जिसमें रस का संचार होता है।

इस भाँति नव रसों में नव-स्थायी भाव है। शृंगार में रति, हास्य में हास, करुणा में शोक, रौद्र में क्रोध, वीर में उत्साह, भयानक में भय, वीभत्स में ग्लानि, अद्भुत में आश्चर्य। आचार्य भरत के बाद के आचार्यों ने शान्त रस भी माना जिसका स्थायी निर्वेद है।

इन रसों में शृंगार का विशेष महत्व है। 'तत्र शृंगारस्य द्वै भेदो सम्भोगो विप्रलम्भश्च।' इस शृंगार के दो भेद हैं। संयोग और विप्रलम्भ। नायक और नायिका के मिलाप में संयोग शृंगार है और वियोग में विप्रलम्भ शृंगार। हमें यहाँ केवल संयोग शृंगार पर ही विचार करना है। यह संयोग शृंगार दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य मम्मट ने उसे नायिका आरम्भ और नायक आरम्भ के रूप में माना है। अर्थात्, जिस शृंगार का आरम्भ नायिका द्वारा किया जाता है, वह नायिका आरम्भ है और जिस शृंगार का आरम्भ नायक द्वारा होता है, वह नायक आरम्भ कहा जाना चाहिए।

महाकवि मति राम ने नायिका आरम्भ शृंगार रस का बड़ा सुन्दर उदाहरण निम्न प्रकार से दिया है :—

क्यों इन आँखिन सों निरसक हूँ मोहन को तन पानिप पीजै ।

नेकु निहारे कलंक लगै यह गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै ॥

होत रहे मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै ।

हूँ बनमाल हिये लगियै अरु हूँ मुरली अधरा रस पीजै ।

यह गोपी बनमाल बन कर श्रीकृष्ण के हृदय से लगना चाहती है और मुरली बनकर अधर रस का पान करना चाहती है। कृष्ण की ओर से मिलने की उत्सुकता हो या न हो किन्तु गोपी अपने हृदय की प्रेम और अनुराग की भावना को अग्रसर करके संयोग शृंगार की परिस्थिति लाना चाहती है।

कविवर कविन्द की एक रचना में नायक आरम्भ शृंगार का उदाहरण देखा जा सकता है :—

गिरिजा सों ईस ऐसी भाँति प्रान प्यारी जू सों
 प्रान, प्यारी प्रीति निरबाहबो करत है ।
 भूषन वसन झारि धारिबो करत बेनी
 गूँधिबे को बार निरबार बो करत है ।
 भनत 'कविन्द' सर सिज नैनी सुन्दरी को,
 उरतें न ओलक उतारबो करत है ।
 रंभा रति हू को रूप बारिबो करत मुख
 सुखमा समूह पै निहारबो करत है ॥

नायक की ओर से अनुराग की भावना उत्पन्न होती है, इसलिये यह नायक आरब्ध शृंगार है। शृंगार चाहे नायिका द्वारा आरब्ध हो चाहे नायक द्वारा इसका स्थायी भाव रति या प्रेम है। इस स्थायी भाव रति का परिचय पदमाकर के एक दूसरे छन्द से लीजिये—

सावनी तीज सुहावनी को सजि, सूहे दुकूल सबै सुख साधा ।
 त्यों 'पदमाकर' देखे बनै न बनै कहते अनुराग अबाधा ॥
 प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसै उरसै रस रंग अगाधा ।
 राधिका के हिये झूलत साँवरे साँवरे के हिय झूलति राधा ॥

राधिका के हृदय में श्याम और श्याम के हृदय में राधिका का झूलना दोनों के हृदय में रति या प्रेम की स्थिति का सूचक है और यह प्रेम समस्त प्रसंग में एक सा वर्तमान है, इसलिये इसे स्थायी भाव की संज्ञा दी गई है।

इस स्थायी भाव की स्थिति में सर्वप्रथम विभाव आता है जो आलंबन और उद्दीपन विभाव के युग्म में पोषित होता है। श्रृङ्गार रस में आलंबन विभाव नायिका और नायक है। विविध परिस्थितियों में श्रृङ्गार का उद्रेक करने के लिये अनेक प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है। साहित्य में यह प्रसंग नायिका भेद से प्रसिद्ध है। नायक भेद का निर्देश भी काव्य साहित्य में है किन्तु वह नायिका भेद के विस्तार के समकक्ष नहीं है और इसका कारण यह है कि नायक की

अपेक्षा नायिका अधिक भावुक और संवेदनामयी है। दूसरे प्रेम की अनन्त अनुभूतियाँ नायक की अपेक्षा नायिका में अधिक हैं। इस प्रकार नायिका भेद एक शास्त्र की श्रेणी तक पहुँच गया है। नायिका भेद के विस्तार में न जाकर यहाँ स्थायी भाव रति से पूर्ण एक नायिका चित्र देखिये :—

आई भली हौं चली सखियन में, पाइ गुविन्द के रूप की भाँकी ।
 त्यों 'पदमाकर' हार दियो गृह काज कहा अरु लाज कहाँ की ।
 है नख तें सिख लौं मृदु माधुरी, बाँकिये भौं हैं विलोकनि बाँकी ।
 आज की या छवि देखि भट्ट अब, देखिये को न रह्यो कछु बाकी ॥

इसी प्रकार स्थायी भावस्थ नायक का रूप देखिये :

बादि छवो रस व्यंजन खाइबो बादि नवों रस मिश्रित गाइबो ।
 बादि जराय प्रजंक बिछाय प्रसून घने परि पाई लुटाइबो ।
 दास जू बादि जनेस मनेस धनेस फनेस रमेस कहाइबो ।
 या जग में सुखदायक एक मयंक मुखीन को अंक लगाइबो ॥

इस प्रकार नायक और नायिका के पारस्परिक अनुराग के मनोभावों में ही आलंबन विभाव में स्थायी भाव की स्थिति होती है।

शृङ्गार रस के उद्दीपन विभाव में सखा, सखी, दूती, वन, उपवन, षट्श्रुतु, पवन, चन्द्रोदय, चन्दन और सुगन्धित पुष्प माने गए हैं। उद्दीपन विभाव के द्वारा आलंबन विभाव को स्थायी भाव के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रमुख उद्दीपनों की चित्रशाला देखिए। सबसे पहले नायक के सखा को देखिये। यों तो इस सखा के चार प्रकार हैं, पीठमर्द, विट, चेटक और विदूषक; किन्तु विदूषक सबसे कुशल है जो नायक-नायिका की भेंट करा कर उनसे परिहास भी करता है। विदूषक का रूप देखिये :—

आपही कुंज के भीतर पैठि सुधारि के सुन्दर सेज बिछाई ।
 बातें बनाय अनेकन भाँति की माधौ सो आनि कै राधा मिलाई ।

आली कहा कहीं हौंसी की बात, विदूषक जैसी करी हैं दिठाई ।

जाय रहो पिछवार उतै फिरि बोलि उछ्यो वृषभान की नाई ॥

सखा के बाद उद्दीपन विभाव में सखी का रूप देखिये । नायिका के लिये यह अनेक कार्य करती है । यह नायिका की हितकारिणी है, व्यंग्य-वैदग्ध्य से परिचित है, अंतरंग बातें जानती है, नायिका का श्रृंगार करती है, शिक्षा भी देती है और परिहास भी करती है । देखिये :—....

एक ही सेज पै राधिका माधवै धाइलै जाइ सुभाय सलोने ।

राखे महाकवि कान्ह कों मध्य में प्यारी कही यह बात न होने ।

हूँ हों मैं साँवरी साँवरे के सँग, बाबरी तोहि सिखाई है कोने ?

सोने को रंग कसौटी लगे पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने ।

सखी ने राधिका से कहा कि कृष्ण के स्पर्श से तू साँवली हो जायगी यह बात तुम्हें किसने सिखाई ? अरी बावली, सोने का रंग कसौटी पर लगता है, कसौटी का रंग सोने पर नहीं । तेरा ही रंग उन पर अंकित होगा उनका रंग तुम्ह पर नहीं ।

प्रेम के उद्दीपन में ऋतु विशेष प्रभाव डालती है । प्रकृति में जो शोभा और शान्ति है वह किसी अन्य वस्तु में नहीं । इसीलिये षट्ऋतु का उद्दीपन विभाव में महत्वपूर्ण स्थान है । वर्ष की छः ऋतुओं में वसन्त प्रमुख है । कवियों ने इस ऋतु का चित्रण अनेक प्रकार से किया है । कवि द्विजदेव का एक उदाहरण देखिये :—

अमें भूले मलिन्दन देखि वितै तन भूलि रहैं किन भामिनियाँ ।

द्विजदेव जु डोली लतान चितै हिय धीर धरैं किमि भामिनियाँ ।

हरि हाय हमारे न जायँ कहुँ तजि ऐसे समैं गज गामिनियाँ ।

मन बौरे न क्यों सजनी अब तो बन बौरी बिसासिन भामिनियाँ ॥

विभाव में बसंतार्गत होली या फाग का वर्णन कवियों के लिये विशेष रुचि कर रहा है । उसी के माध्यम से संयोग के अनेकानेक चित्र चित्रित किये जाते हैं तथा नायक तथा नायिका के

बीच अनेकानेक हास परिहास के प्रसंग उपस्थित होते हैं । कवि सरदार का एक कवित्त सुनिये :

डरो ना अहीरन सों अतर अवीरन सों,
चार जनी चार चार औरन तें धावो री ।
एक हाथ आढो पिचकारिन की अपार मार
एक हाथ ओट-चोट आँखिन बचावो री ।
कवि सरदार आयो बड़ो खेलवारो ताहि,
खेल को सवाद अंग अंगन बतावो री ।
कीरति कुमारी कहैं हेरि के कुमारि कोऊ
हौ री गुनवारी बनवारी बाँधि लावो री ॥

ऐसी होली में तो कृष्ण स्वयं बाँध, कर चले आवेंगे, उन्हें बाँध कर लाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी ।

शीतल, मन्द सुगन्ध पवन भी उद्दीपन के अंतर्गत है । समीर के संबन्ध में बिहारी का यह दोहा आपने अवश्य ही सुना होगा :

रनित भृङ्ग घंटावली, भरत दान मधु नीर ।
मन्द मन्द आवत चलयो, कुंजर कुंज समीर ।

सुगंधित पवन का एक दूसरा उदाहरण सुनिये :

मौलसिरी मधुपान छक्यो मकरन्द भर्यो अरविन्द नहायो ।
माधवी कुंज सोंखाय धका फिरि केतकी पाटल को उठि धायो ।
सोनजूही मढराय रह्यो छिन :संग लिए मधुपावलि धायो ।
चम्पहि चाहि गुलाबहि गाहि समीर चमेलिहि चूमत आयो ॥

जिस उपवन में नायक नायिका मिलते हैं और जो अपनी शोभा और सुगंधि से रति भाव को स्थापित करता है उसके दर्शन कीजिये :—

मल्ली दुम वलित ललित पारिजात पुँज,
मुँज बन बेलिन चमेलिन महमहात ।

राची भूमि हरित हरित तृण जालन सों
 बिच बिचखात त्यों फुहारन लौ छहरात ॥
 जित तित माधवी निकुंज छई बीथिन में
 फटिक सिलानि साजि अवनि लहलहात ।
 आली बनमाली उपवन चतुराई देखि
 त्यागि गिरि कानन नसंत नित लहरात ॥

इसी प्रकार शुभ्र चाँदनी की शोभा देखिये जिससे कठिन से
 कठिन प्रेम में भी तरलता आ जाती है । चाँदनी का यह सुन्दर चित्र
 कितना मोहक है !

परम उदार ऋतुराज महाराज आज,
 विमल जहान करिबे की रुचि ठाई है ।
 सीतकर रजक रजाय पाय तासी समै
 अम्बर की सोभा करि उज्ज्वल दिखाई है ।
 छटा जनि जानो तरु अटा औ देवारिनि में
 व्यौत कर आछी विधि वाही सों मढ़ाई है ।
 चहुँ ओर अवनि विराजै अवदात देखो,
 कैसी अद्भुत यह चाँदनी बिछाई है ॥

और अन्त में काम देव के वे बाण देखिये जिनसे विराग भी
 अनुराग में परिवर्तित हो जाता है । सुगंध से सने फूल उद्दीपन के
 मादक अङ्ग हैं जो पराग से प्रेमियों के नेत्र अंधे कर देते हैं ।

देखत हो बन फूले पलास, विलोकत ही कुछ भौर की भीरन ।
 बावरी सी मति मेरी भई लखि बावरी कंज लिखे घटे नीरन ।
 भाजि गयो कढ़ि ज्ञान हिये तें न जानि पर्यो कब छोड़ि के धीरन ।

अंध न कौन के लोचन होंहि पराग सने मधुमास समीरन ॥

विभाव के बाद ही अनुभाव से रसानुभूति का संकेत मिलता है ।
 इनका संबन्ध क्रिया कलाप से है । ये तीन प्रकार के होते हैं, सात्विक
 कायिक और मानसिक । शरीर के सहज अंग विकार को सात्विक

भाव कहते हैं जिसके अंतर्गत स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, तन्मयता और जूभा का समावेश है। इनमें से पदमाकर द्वारा रचित स्वर का उदाहरण देखिये :—

जात हुती निज गोकुल को हरि आये तहाँ लखि कै मग सूना ।

तासो कह्यो पदमाकर यों अरे सांवरे बावरे तैं हमें छूना ।

आज धौं कैसी भई सजनी उतवा विधि बोल कद्योई कहूँ ना ।

आन लगायो हिये सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछु ना ॥

कायिक अनुभाव में अंगों की चेष्टाएँ अधिक की जाती हैं आँख, भौंह, हाथ, ओंठ आदि का स्पन्दन या संचालन हम अनुभाव का विशेष लक्षण है :—

स्याम सैन तिय नैन तकि निसरि भीर तें आय ।

अधर आंगुरी धरि चली चित की चाह चिताय ॥

इसी भाँति मानसिक अनुभाव में मन के विकार स्पष्टतः उभर आते हैं। इर्ष, प्रमोद आदि भावों की सृष्टि ही मानसिक अनुभाव है :—

सरद पूर्णिमा जमुन तट रास रच्यौ नंदलाल ।

मोद अलौकिक की छटा इन जाहत ब्रजबाल ॥

यहाँ अलौकिक मोद की छटा ही मानसिक अनुभाव है। इन्हीं कायिक और मानसिक अनुभावों के अंतर्गत संयोग शृङ्गार में नायिकाओं के बारह हाव परिगणित हैं! ये हाव शरीर और मन की चेष्टाएँ ही हैं। इन बारह हावों के नाम हैं :—

लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, क्लिक्चित, ललित, मोट्टा-यित, बिम्बोक, बिद्धत, कुट्टमित, हेला और बोधक।

लीला हाव में वेश विपर्यय की चेष्टा है। जब प्रेमातिरेक में नायक नायिका का और नायिका नायक का वेश धारण कर ले। कवि पदमाकर ने इस चेष्टा का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है :—

ये इत घूँघट घालि चलै उत बाजत बौसुरी की धुनि खोलै ।
 ल्यों 'पदमाकर' ये इतै गोरस लै निकसै यौ चुकावत मोलै ।
 प्रेम के पंथ सु प्रीति की पैठ में, पैठत ही है दसा यह जोलै ।
 राधामई भई स्याम की सूरति स्याम मई भई राधिका डोलै ॥

विलास हाव में अनेक प्रकार की आकर्षण करने वाली चेष्टाओं का समुच्चय सा रहता है । भ्रू-मंग, कटाक्षादि और अन्य प्रेम-पूर्ण संकेत हम विलास हाव का निर्माण करते हैं :—

सोभित सुमन वारी सुमना सुमनवारी,
 कौन हूँ सुमनवारी को नहिं निहारी है ।
 कहै 'पदमाकर' ल्यों बौधनू वसन वारी,
 वा ब्रज वसन वारी ह्यो हरन हारी है ।
 सुवरन वारी रूप सुवरन वारी सजै,
 सुवरन वारी काम कर की सँवारी है ।
 सीकरन वारी सेद सी करनवारी रति,
 सी करन वारी सो बसीकरन वारी है ॥

विच्छिन्ति हाव में अल्प शोभा के विचित्र आकर्षण से ही प्रेम की भावना उत्पन्न हो जाती है । सहज चेष्टा से बढ़कर हजार बार सँवारी हुई कृत्रिम चेष्टा नहीं हो सकती :—

जनु मलिन्द अरविन्द बिच, बस्यो चाहि मकरन्द ।
 इमि इक मृग मद बिन्दु सों किये स्वबस ब्रजचन्द ।

विभ्रम हाव में आतुरता कार्य में अव्यवस्था हो जाती है जिससे आकर्षण और भी बढ़ जाता है :—

पहिरि कंठ बिच किंकिणी, कस्यो कमर बिच हार ।
 हर बराय देखन लगी, कब तें नन्दकुमार ॥

किलकिंचित हाव में अनेक विचित्र और परस्पर विरोधी चेष्टाएँ एक साथ ही उत्पन्न हो जाती हैं और परिस्थिति में कुतूहलता उत्पन्न हो जाती है । बिहारी ने लिखा है :—

कहति नटति रीभूति खिभूति, मिलति खिलति लजि जात ।
 भरे भौन में करत हैं, नैनन ही सों बात ॥
 ललित हाव में से अत्यन्त सहज चेष्टाओं का चित्रण रहता है ।
 अथरव दुति विद्रुम करत, बंक विलोकनि गुंज ।
 बहुरि जलज को जलज ही, करत हास रस पुंज ॥
 मोट्टायित हाव में सरस परिस्थितियों के बीच प्रेम भाव का
 प्रतिबिम्ब समस्त क्रिया कलापों पर हो जाता है :—
 बसीकरन जब तें सुन्यो, स्याम तिहारो नाम ।
 इगनि मूँद मोहित भई, पुलकि पसीजत बाम ॥
 विव्वोक हाव प्रेम पूर्ण परिस्थितियों में मिथ्या निरादर ही को
 ही विव्वोक की संज्ञा दी गई है । तोष कवि ने इसका बड़ा ही सुन्दर
 उदाहरण दिया है :—

अहीर वारो तोसों जोरि कर कोरि कोरि,
 विनय सुनाऊँ बलि बाँसुरी बजावै जनि ।
 बाँसुरी बजावै तो बजाउ मो बजाय जानै,
 बड़ी-बड़ी आँखिन तें एक टक लावै जनि ॥
 लावै है तो लाव टक 'तोष' मोसे कहा काम,
 बार बार दौरि दौरि मेरी पौरि आवै जनि ।
 आवै है तो आव हम आइबो कबूल्यो पर,
 मेरे गोरे गात में असित अंग छ्वावै जनि ।

विहृत हाव में लज्जा की इतनी अधिकता होती है कि वाणी
 मौन हो जाती है । इस सम्बन्ध में सुकवि द्विजदेव का एक सुन्दर
 कवित्त सुनि ए :—

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकी गन,
 सिखै हारी. सखी सब जुगत नई नई ।
 'द्विजदेव' की सों लाज वैरिनि कुसंग इन
 अंगनि ही आपने अनीति इतनी ठई ।

हाथ इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
 देखन न पाई वह सूरति सुधा मई ।
 आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज,
 चलन समै में चल पलन दगा दई ॥

कुट्टमित हाव—विश्वोक में जिस प्रकार प्रेम पूर्ण परिस्थितियों में मिथ्या निरादर प्रकट किया था इसी प्रकार कुट्टमित हाव में मिथ्या क्रोध प्रकट किया जाता है ।

कर ऐंचत आवत हूँची, तिय आपहिं पिय ओर ।
 झूठहि रूसि रहै छिनक, छुवत छुरा को छोर ॥

हेला हाव में शृंगार भाव के अंतर्गत धृष्टता करने की एक ललित कला है । पद्माकर के एक सवैया में इसका एक सुन्दर उदाहरण है :—

फाग की भीर अभीरन ल्यों गहि गोविंद ले गई भीतर गोरी ।
 भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाय अभीर की भोरी ॥
 छीनि पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मीढ़ि कपोलन रोरी ।
 नैन नचाई कही मुसकाइ, लला फिर आइयो खेलन होरी ॥
 बोधक हाव में प्रेम की पूर्ति के लिए कोई संकेत किया जाता है ।
 निरति रहे निधि बन तरफ, नागर नन्दकुमार ।

तोरि हीर को हार तिय, लगी बगारन बार ॥

नायिका द्वारा हीरे का हार तोड़ कर बालों को बिथुराने में यही संकेत है कि रात्रि के अंधकार में तारे निकलने पर ही, हेनन्दकुमार । तुमसे भेंट होगी ।

इस भाँति आलम्बन विभाव में नायिका के यही हाव स्थायी भाव की अनुभूति की ओर हृदय प्रेरित करते हैं ।

स्थायी भाव को अधिक बल प्रदान करने के लिए क्रमशः उत्पन्न और विलीन होने वाले जो भाव हैं, वे संचारी या व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं । यह संख्या में तेतीस होते हैं । ये संचारी भाव मनो-

विज्ञान की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त हैं। यह देखा जाता है कि मन में एक भाव के स्थिर होते ही उससे संबंधित अनेक भाव आन्दोलित होते रहते हैं। अतः इन संचारी भावों को उप-भाव भी कहा जा सकता है। ये तेतीसों भाव हैं, निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विषाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमर्ष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, हर्ष, क्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता और वितर्क। इन संचारी भावों में ग्लानि-मरण और अपस्मार जैसे कुछ संचारियों को छोड़ कर सभी संचारी भावों शृंगार रस में प्रयुक्त होते हैं। अतः सबसे अधिक संचारियों से पुष्ट होने के कारण ही शृंगार को 'रस राज' कहा गया है। संयोग शृङ्गार में वियोग शृङ्गार की अपेक्षा कम संचारी भाव हुआ करते हैं क्योंकि वियोग में जिस मात्रा में हृदय आन्दोलित होता है, संयोग में उस मात्रा में नहीं होता। संयोग शृङ्गार में सामान्यतः जिन संचारी भावों का समावेश होता है, वे हैं मद, धृति, आलस्य, मति, चिन्ता, मोह, विबोध, स्मृति, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, हर्ष, क्रीड़ा, और उग्रता। उदाहरण के लिये कवि ठाकुर का एक सवैया है जिस में आलस्य और क्रीड़ा को छोड़ कर अन्य बारह संचारी हैं !

जबतें दरस मन मोहन जू तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं ।

कुल कानि गई सखी वाही घरी जब प्रेम के फन्द पगीं सो पगीं ।

कवि ठाकुर नैन के नेजन की उर में अनि आनि खगीं सो खगीं

तुम गाँव रे नाँव रे कोऊ धरो हम साँवरे रँग रँगी सो रँगी ॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि आलम्बन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से ऐसे स्थायी भाव की ओर अग्रसर होते हैं जो रस में परिणत होकर आनन्द प्रदान करता है। यह आनन्द शृङ्गार रस के संयोग पक्ष में घटित हुआ है।

रस के इस विवेचन में एक बात सामने आती है। वह यह कि आनन्द तो अंतःकरण की एक सहज प्रक्रिया है। इस सहज प्रक्रिया के लिये सिद्धान्त की आवश्यकता ही क्या है। जब हम हँसते हैं, रोते हैं, प्रेम करते हैं तो किसी सिद्धान्त को सामने नहीं रखते। कोई हास्य की घटना घटित होती है तो हँस पड़ते हैं, कोई शोक का प्रसंग आता है तो बरबस हमारे नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह होने लगता है। जब कोई सुन्दर वस्तु या परिस्थिति सामने आती है तो हम उससे सहज ही प्रेम करने लगते हैं। ये क्रियाकलाप हमारी सहज प्रकृति से ही होते हैं। इसी प्रकार आनन्द की अनुभूति भी सिद्धान्त पर नहीं रहती। यह बात दूसरी है कि हमारे हँसने, रोने, प्रेम करने और आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने की क्रिया समाप्त होने पर उनका विश्लेषण किया जाय और तब उस विश्लेषण के आधार पर सिद्धान्तों का निर्माण हो। ऊपर जो श्रृङ्गार रस के संयोग पञ्च का विश्लेषण किया गया है, वह उसी प्रकार सिद्धान्त सापेक्ष है। इसे हम रस का शिल्पगत (Architectural) सौन्दर्य भी कह सकते हैं। रीति-काल में रस का परिचय इसी सिद्धान्त सापेक्ष दृष्टि से किया गया है।

भक्तिकाल में रसानुभूति की दृष्टि भिन्न रही है। उसमें कबीर सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियों ने रस निरूपण के लिये स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग की प्रदर्शनी कभी उपस्थिति नहीं की। उनकी आनन्दानुभूति तो इतनी विलक्षण थी कि केवल विभाव या अनुभाव में ही उन्होंने रस की सृष्टि कर दी। इसका कारण यह है कि इन संत कवियों की चित्तवृत्ति स्वरूपानन्द में इतनी अधिक तन्मय थी कि उन्हें विभावादि के माध्यम से मन पर पड़े हुये सांसारिक आवरण को हटाने के लिये कोई अलौकिक क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं थी। उनका चैतन्य प्रस्तुत प्रसंग के स्थायी भाव या आलंबन विभाव से ही मिल कर 'रस' की

सृष्टि कर देता था । इस प्रकार अभिधा, भावना और भोग की प्रक्रियाओं में रस की सृष्टि हो जाती थी । यह क्रिया स्वाभाविक है और इसमें सहज ही विभावादि व्यंजित हो जाते हैं । अतः यदि रीतिकालीन रस कवियों के द्वारा सिद्धान्त सापेक्ष बनाया गया तो भक्ति कालीन रस सिद्धान्त निरपेक्ष ही समझना चाहिये । उदाहरण के लिये संत कबीर ने लिखा:—

अँखिया तो झोई परी, पंथ निहार-निहार ।

जिम्मा तो छाला परा, नाम पुकार-पुकार ॥

इस दोहे में केवल आलंबन और अनुभाव के द्वारा ही रस की सृष्टि हो गई । इसी प्रकार:—

जल में बसै कुमोदनी, चंदा बसै अकास ।

जो है जा का भावता, सो ताही के पास ॥

इसमें केवल आलंबन विभाव से ही रस निष्पत्ति हुई है । इसी प्रकार संत तुलसीदास ने बालकांड में लिखा :—

जाइ समीप राम छवि देखी ।

रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी ॥

इसमें केवल आलंबन विभाव और अनुभाव से ही शृंगार रस की पूर्ति हुई है । मीराबाई ने प्रेम स्वर में गाया :—

ऐसे पियै जान न दीजै हो ।

चलो री सखी ! मिलि राखिए, नैननि रस पीजै हो ।

स्याम सलोनी सौँवरो मुख देखत जीजै हो ।

जोइ जोई भेष सों हरि मिलें, सोइ सोइ कीजै हो ।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बड़भागन रीजै हो ॥

इस पद में केवल अनुभावों पर ही आग्रह है जिससे शृंगार रस का उद्रेक हुआ है । इस प्रकार सूरदास, नन्ददास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस निष्पत्ति के लिये विभाव अनुभाव और संचारी

भावों के संयोग की अपेक्षा नहीं मानी। रस-निष्पत्ति सिद्धान्त निरपेक्ष है।

आधुनिक युग में पश्चिम के प्रभाव ने हमारे काव्य का लक्ष्य बदल दिया है। जीवन के मूल्यांकन में साहित्यकारों का अधिक विश्वास हो गया है और मनोविज्ञान की गहराइयों में जाकर सत्य की समीक्षा ही साहित्य का लक्ष्य बन गया है। यथार्थवाद ही साहित्य का लक्ष्य बन गया है। और वह ही साहित्य का वास्तविक मापदंड है और स्वाभाविकता का प्रत्यक्षीकरण ही साहित्य का सौंदर्य है। अतिमानदीयता और अतिरंजना साहित्य में दोष है। ऐसी स्थिति में काव्य में रस निष्पत्ति का कोई महत्व नहीं है। इस प्रकार “रस” सिद्धान्त के बहिष्कार के कुछ कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :

(१) मनोविज्ञान के विश्लेषण ने हमारे को काव्य विचार प्रधान बना दिया है और कल्पना ने अनुभूति की अपेक्षा चिन्तन को अधिक प्रश्रय दिया है।

(२) रीतिकालीन शृंगार काव्य की प्रक्रिया ने रस के समस्त उपादान हमारे काव्य क्षेत्र से निष्कासित कर दिए हैं।

(३) जीवन की समीक्षा में व्यक्ति प्रधान हो गया है तथा व्यक्तिगत भावनाओं को अधिक प्रश्रय मिला है। व्यक्ति और वस्तु का बोध अधिक होने के कारण रस के साधारणीकरण की भावना का लोप-सा हो गया है।

(४) अध्यात्मवाद का ब्रह्मानन्द ही जब काव्य में न रहा तो ब्रह्मानन्द सहोदर रस भी अदृश्य हो गया।

मेरी दृष्टि में रस अमर है। वह काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग अब भी है। जब तक काव्य रहेगा, रस की सृष्टि निरन्तर होगी अथवा रस अपनी अभिव्यक्ति के लिये काव्य का शरीर अवश्य ही ग्रहण करे। आचार्य द्विवेदी के युग में प्राचीन रस परंपरा ‘प्रियप्रवास’ और ‘साकेत’ महाकाव्यों में प्राप्त हुई, किन्तु गीति काव्य में व्यक्तित्व

की प्रधानता हुई और मनोविज्ञान ने काव्य में प्रवेश किया। प्राचीन पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय तो आधुनिक हिन्दी काव्य स्थायी भाव की अपेक्षा संचारी भावों में अधिक पोषित हुआ। सूक्ति चमत्कारों में भावना का परिचय दिया जाने लगा किन्तु जैसे ही खड़ी बोली काव्य में रस की स्थापना पुनः आरम्भ की, उन्होंने रस को विभावादि के संयोग का रूप न देकर प्रतीकों का रूप दिया। प्रसाद का समस्त साहित्य रस वादी साहित्य है। नाटकों और कथा साहित्य में उन्होंने जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये भी दर्शन के माध्यम से रस की प्रतिष्ठा की। नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' और कहानियों में 'आकाशदीप' उनके रसवाद के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'कामायनी' में रस की पूर्ण निष्पत्ति है किन्तु वह निष्पत्ति हुई है प्रतीकों और रूपकों द्वारा। इड़ा सर्ग में मनु और इड़ा का मिलन शृंगार के प्रतीकों द्वारा संभव हुआ है :

नीरव थी प्राणों की पुकार

मूर्छित जीवन सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार।

निस्तब्ध अलस बन कर सोई चलती न रही चंचल बयार।

पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूंदें सरस मौन।

निस्वन दिगंत में रहे रुद्ध सहसा बोले मनु...अरे कौन

आलोकमयी स्मित चेतनता आई यह हेमवती छाया

तन्द्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया

वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग खो उठता पुकार

बीचियाँ नाचतीं बार बार।

यहाँ सर, नीहार, बयार, कंज, मधु बूँदें, स्मित चेतनता, हेमवती छाया, स्वप्न, उजली माया और बीचियाँ अनेकानेक प्रतीक हैं, जो संयोग शृंगार की प्रत्यक्ष अनुभूति में सहायक हो जाते हैं। इसी प्रकार श्री सुमित्रानन्दन पंत की चाँदनी शीर्षक रचना के चार छंद देखिये :—

नीले नभ के शत दल पर
 वह बैठी शरद-हासिनि
 मृदु करतल पर शशि मुख धर
 नीरव अनिमिष एकाकिनि

वह स्वप्न जड़ित नत चितवन
 हर लेती अग जग का मन
 श्यामल कोमल चल चितवन
 लहरा देती जग जीवन।
 वह बेला की फूली बन
 जिसमें न नाल, दल, कुड्मल
 केवल विकास चिर निर्मल
 जिसमें डूबे दश दिशि पल।

वह सोई सरित पुलिन पर
 सांसों में स्तब्ध समीरण
 केवल लघु लघु-लहरों पर
 मिलता मृदु-मृदु उर स्पन्दन।

चाँदनी की समस्त अभिव्यक्ति में “शरद-हासिनि” का मानवीकरण रस-पोषक हुआ है। इस भाँति रस शाश्वत है जो हिन्दी में प्रथम सिद्धान्त निरपेक्ष रहा, फिर सिद्धांत सापेक्ष बना हुआ अब प्रतीकात्मक है और शृंगार का संयोग पक्ष तो रस के मस्तक पर मुकुट की भाँति सुशोभित है।

०००

साहित्यिक-न्याय-भावना का विकास

साहित्य अपौरुषेय है। किसी दिव्य ज्ञान में मानवता के विकास की प्रेरणा ने शब्द और अर्थ का माध्यम ग्रहण कर एक रागात्मक रूप ग्रहण किया। उसने न केवल स्थूल संसार की दिशाओं को प्रतिध्वनित किया वरन् उसने सूक्ष्म संसार के अखिल विस्तार में अगणित भावनाओं की सृष्टि की जिसमें शताब्दियों के मनोविकारों को स्पष्ट दिशा प्राप्त हुई। जिसमें केवल रूप ही रूप नहीं था, हृदय भी था। जड़ता और चेतना का समन्वय था। यदि एक ओर अनंग के धनु की भाँति बाहुलता थी, तो दूसरी ओर प्रेम की विद्रुम सीपी में आँसू का मोती भी थी। यदि एक ओर नीलम की प्याली थी, तो दूसरी ओर उसमें समाने वाली मानिक मदिरा भी थी। यदि एक ओर बिखरी हुई अलकें थीं, तो दूसरी ओर उसकी भाँति अनेक उलझनें भी थीं। इस प्रकार बाह्य जगत और अन्तर्जगत् ने, जड़ और चेतन ने ऐसे साहित्य का निर्माण किया जो मानवता का पथ प्रशस्त कर सके और अतीत की शृङ्खला को भविष्य की कड़ियों से जोड़ सके।

साहित्य के दो रूप हैं। एक रूप तो युग-सम्मत है। वह युग की भ्रू-भंगिमाओं के संकेत से उठता है और समस्याओं के क्रोड़ में डूब जाता है। किसी गोताखोर की तरह वह चारों ओर हाथ फैलाकर अपनी समस्याओं का हल चाहता है, और, जैसे ही उसके हाथ में

रत्न की भाँति हल आ जाता है, वह ऊपर उठ आता है। उसका कार्य समाप्त हो जाता है। वंशावलियों की समाप्ति की भाँति उसकी भी समाप्ति हो जाती है और वह इतिहास के एक परिच्छेद की भाँति मानवता के अंग से जुड़ा रहता है। साहित्य का दूसरा रूप उस क्षेत्र से उठता है जहाँ मनुष्य की आदि प्रवृत्तियों का संसार है जो युगों के परिवर्तन से नहीं बदलता। वह संसार मनुष्य के अन्तर्जगत् में है, जो चिरंतन है। मनुष्य का प्रेम शताब्दियों से आता हुआ भी आज उतना ही नवीन है जितना पहले था। व्यक्तियों की परम्पराएँ बदल जाती हैं किन्तु प्रेम हृदय का समस्त समर्पण ले कर आज भी नया है। प्रगति की अदम्य लालसा अनेकानेक भूकम्पों के भीषण आघातों और ज्वालामुखियों के अग्निमय विस्फोटों से पराजित नहीं हुई है। दानवों ने मानव को पीसने के कितने षड्यंत्र किए, रक्त बीज बनकर भूमि के कण-कण में उत्पन्न होकर शक्ति को चुनौती दी किन्तु सत्य की विजय रही और मानव अपनी उदात्त भावनाओं के रथ पर चढ़कर समस्त आकांक्षाओं और प्रगतियों का अधिनायक बना। यह साहित्य मानवता की संस्कृति का साहित्य है। युग की सभ्यता ने संस्कृति के विरोध में खड़े होकर संस्कृति की पुष्टि ही की है; जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को तपाकर और ही सबल और सतेज बना देती है।

न्याय-भावना के विकास में ये दोनों प्रकार के साहित्यिक दृष्टिकोण कार्य करते रहते हैं। किसी युग का साहित्य किसी कार्य या व्यक्ति को जिस दृष्टि से देखता है, क्या उसी दृष्टि से चिरंतन साहित्य उसे देख सकेगा? या, जो व्यक्ति चिरंतन साहित्य की श्रद्धा का भाजन बन सका है, वह उसी पूज्य दृष्टि से युग के साहित्य द्वारा देखा गया है? अधिकतर दोनों युगों की दृष्टि में में साम्य नहीं रहा। युग की दृष्टि शताब्दियों की दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकती और किसी भी व्यक्ति के कार्यों की प्रतिक्रिया भविष्य में क्या होगी इसका

अनुमान नहीं कर सकती; दूसरी ओर, चिरंतन साहित्य, जो शताब्दियों से गुण में अनेकानेक युगों की ग्रन्थियाँ देख सकता है और उनमें संतुलन उपस्थित कर सकता है। युग की विकारजनित परिस्थितियों पर युग के समान ध्यान नहीं दे सकेगा। अतः यह स्पष्ट है कि युग साहित्य और चिरंतन साहित्य में न्याय-भावना का दृष्टिकोण एक सा न होगा। यह भी सम्भव है कि एक युग साहित्य का दूसरे युग के साहित्य के विरोध में खड़ा हो जाये।

साहित्य स्वानुभूति और सद्गानुभूति मूलक है। उसकी गति सदैव जीवन की परिधियों को विस्तृत करने में सहायक रही है। मानवता के विकास में पहले स्थूल जगत् की विशालता ने कार्य किया है। बाद में इसी विशालता ने क्रमशः सूक्ष्म में प्रवेश कर अपनी व्यंजना को स्थूल के विस्तार से भी अधिक विस्तार दे दिया है। प्रतिक्षण यह विस्तार मनुष्य की स्वानुभूति की प्रतिष्ठा कर अधिकाधिक विकास पाता रहा है। वेदों में स्थूल जगत् की, प्रकृति अति व्याप्ति है; उस अतिव्याप्ति ने चिंतन का क्षेत्र ग्रहण कर अपनी विविधता में एकरूपता देखी और उस एकरूपता की गहराई का संसार स्थूल संसार से बहुत बड़ा हो गया। अतः यह भी कहा जा सकता है कि युग का साहित्य स्थूल पर अधिक आधारित है और संस्कृति का साहित्य सूक्ष्म पर। इस दृष्टि-भेद से किसी वस्तु या परिस्थिति के वास्तविक मूलभांकन में बहुत बड़ी दूरी हो सकती है। वैदिक साहित्य का प्रमुख देव इन्द्र पौराणिक साहित्य में सामान्य देवता ही रह गया। वाल्मीकि रामायण के महापुरुष राम अध्यात्म रामायण के परब्रह्म राम हो गए।

इस परिवर्तन में एक प्रवृत्ति निरन्तर कार्य करती है। यदि प्राचीन युग का साहित्य विश्वजनीन रूप में लिखा गया है तो आगामी युगों का साहित्य या संस्कृति का साहित्य उस प्राचीन युग

के साहित्य का समर्थन और प्रसार अधिक मनोवैज्ञानिक रूप से करेगा और उसे हृदय की गहराई तक पहुँचा देगा और यदि प्राचीन युग का साहित्य केवल युग की दृष्टि से ही लिखा गया है तो परवर्ती युगों का साहित्य उस प्राचीन युग के साहित्य को यदि आगे बढ़ाना चाहेगा तो उसके युग से बंधित विकारों को सहानुभूति की दृष्टि से देखकर उसे मानवता के कल्याण की दिशा में प्रसारित कर देगा । वस्तुतः परवर्ती युग के साहित्य ने अथवा चिरन्तन साहित्य ने प्राचीन साहित्य को सदैव सहानुभूति के साथ देखा है । जो वस्तु युग के प्रभावों से कलुषित बनी उस पर सम्पूर्ण मानवता की सहानुभूति से प्रकाश डाला गया और उसे उदात्त बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया ।

उदाहरण के लिए महाभारत का दुष्यंत शकुंतला के साथ व्यवहार करने में हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं हो सकता; किन्तु महाकवि कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना कर दुष्यंत को सम्पूर्ण धीरोदात्त नायक के गुणों से अलंकृत कर दिया और वह अपनी शापजन्य विवशता में हमारी सहानुभूति का पूर्ण अधिकारी बन गया । इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में वनवास के अवसर पर लक्ष्मण का क्रोध तुलसीदास ने अपने मानस में समाप्त ही कर दिया है । शताब्दियों से लांछित कैकेयी, साकेत महाकाव्य में हमारी दया और सहानुभूति की स्वामिनी बन गयी है । यहाँ तक कि मेघनाथ भी श्री माईकेल मधुसूदन दत्त की लेखनी से हमारी प्रशंसा और सहानुभूति का पात्र बन गया है । इतिहास के स्कन्दगुप्त में भी श्री जयशंकर प्रसाद ने नये प्राण फूँक दिये हैं और वह वीरता का कवच धारण कर भी हृदय में देवसेना के लिये एक सुकोमल स्थान सुरक्षित कर लेता है । इसी प्रकार ध्रुवदेवी की क्रान्ति ध्रुवस्वामिनी के रूप में आज भी समाज के समक्ष एक ज्वलंत दृष्टिकोण उपस्थित करती है । प्रेमचन्द की सारंधा ने भारतीय जीवन के महान आदर्शों को आज

के बुद्धिवादी मंच पर वीर नारी की भाव भंगिमा में प्रतिष्ठित कर दिया है ।

निष्कर्ष तो यही निकलता है कि समय के प्रवाह के साथ हम में नैतिकता के प्रांत अधिक आस्था बनती जाती है । हमारे सामने ऐसे अनेकानेक उदाहरण हो चुके होते हैं जिनमें हमने अनैतिक मार्ग में जाने वाले व्यक्तियों का अधःपतन देखा है और यदि हम अपने भविष्य को अधिक उज्ज्वल बनाना चाहते हैं तो हमें उन अनैतिक व्यक्तियों के इतिहास से लाभ उठाकर जीवन को अधिक नैतिक बना लेना है । इसी नैतिक भावना में न्याय की भावना भी अधिकाधिक परिष्कृत होती जाती है और उतरोत्तर उनका विकास होता चलता है । जिन व्यक्तियों के साथ प्राचीन साहित्य में न्याय नहीं हो सका है, उन व्यक्तियों की तत्कालीन परिस्थितियों में हम अधिक गहराई से प्रवेश करना चाहते हैं और उन मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना चाहते हैं, जिनके कारण उन व्यक्तियों के साथ न्याय नहीं हो सका । यदि उन मनोवृत्तियों में हमें कोई ऐसी परिस्थिति मिल जाती है जिसके आधार पर उसके प्रति न्याय किया जा सकता है तो हम तुरन्त उस परिस्थिति की पृष्ठभूमि में न्याय-भावना का अंश जोड़ देते हैं । मेरा नवीनतम महाकाव्य 'एकलव्य' इसका उदाहरण है । इस मनोवैज्ञानिक स्थिति में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष होने लगता है और तब मानव के यथार्थ से समझौता करते हुए आदर्श की बात भूलने लगते हैं । आदर्श के स्थान पर हम अपनी सहानुभूति रख देते हैं और इस प्रकार हम अपनी नैतिकता की रक्षा भी कर लेते हैं ।

इस न्याय-भावना के विकास में युगों की अनुभूति भी जुड़ती चलती है जो अपनी दृष्टि से परिस्थिति का परिष्कार करना चाहती है । वाल्मीकि रामायण में कैकेयी के कार्य में राजनीतिक दृष्टि, रामचरित मानस में आधिदैविक दृष्टि और साकेत में मनोवैज्ञानिक

दृष्टि की प्रधानता हो गई है। अपनी दृष्टि से परवर्ती युगों ने परिष्कार करना चाहा है।

उर्मिला की विरहानुभूति तो अभी तक साहित्य में अज्ञात थी, श्री मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में मुखरित हो उठी है। इस प्रकार कवि ने कथा में संवेदना और सहानुभूति का नया अध्याय जोड़ कर व्यक्ति और परिस्थिति के प्रति हमारी सहानुभूति प्रेरित की है। यह भी संभव है कि परवर्ती युग की दृष्टि पूर्ववर्ती युग से विरोध प्रकट कर दे। उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण में बनवास के अवतार पर लक्ष्मण का जो क्रोध है, उसे मानसकार ने तो शान्त कर दिया किन्तु साकेतकारने उसे पुनः प्रकाश में लाकर वस्तुवादी परिस्थिति को तीव्र बना दिया। यहाँ वस्तु-स्थिति की तीव्रता उभारने के लिए कवि ने यथार्थवाद को अधिक महत्व दे दिया और जीवन की स्वाभाविकता को ही विधेय माना। इस भाँति युग-संभूत साहित्य भी चिरंतन साहित्य का संशोधन करते हुए उसे आगे बढ़ाता है। उसे हमारे जीवन से जोड़ने लिए उसमें अधिक वास्तविकता का प्रवेश करा देता है और उसके साथ न्याय भावना भी संबद्ध हो जाती है।

इस न्याय भावना का विकास केवल व्यक्ति को लेकर ही नहीं होता, वर्ग और जाति से भी उसका संबंध है। उदाहरण के लिए वैदिक धर्म के विकास में शैव और शाक्त संप्रदाय सदैव ही वैष्णव धर्म के विरोधो समर्थन गए। वैष्णव भक्तों ने पद-पद पर शाक्तों की निन्दा की। कबीर ने वैष्णव की कुतिया को शाक्त की माँ से श्रेष्ठ समझा, वैष्णव की झोपड़ी को शाक्त के गाँव से अच्छा समझा। शैवों की परंपरा में नाथ-सम्प्रदाय ने भी वैष्णवों के कर्मकांड और वर्णाश्रम धर्म को झूठा कहा किन्तु कबीर के बाद तुलसी दास ने वैष्णवों और शैवों में मैत्री स्थापित करा दी। राम और शिव परस्पर एक दूसरे के स्वामी और भक्त हो गए और सीता

ने तो बड़े ही भक्ति-भाव से गिरिजा की स्तुति की। तुलसी दास ने अपने समन्यवादी दृष्टिकोण से वैष्णव और शैव धर्म की उपासना में सन्तुलन स्थापित किया और समय की परिस्थितियों में निष्पक्ष दृष्टि रखते हुए प्रत्येक के प्रति न्याय-भावना का विकास किया।

यह स्पष्ट है कि न्याय भावना का विकास उत्तरोत्तर होता जावेगा। व्यक्ति और वर्ग से ऊपर उठ कर यह न्याय-भावना परम्पराओं का भी परिष्कार करती है। जीवन और धर्म में अनेक परम्पराएँ हैं जो शताब्दियों से चली आ रही हैं। साहित्य के साथ अनेक लोकगीत हैं, अनेक लोक गाथाएँ हैं, अनेक लोक श्रुतियाँ हैं, जो आज भी श्रद्धा और विश्वास से मानी और समझी जाती हैं। ये लोक गीत किसी साहित्य से कम नहीं हैं। इनमें भी हृदय का स्पन्दन है और रागात्मक प्रवृत्तियों का विपुल वैभव ! इनकी मान्यताएँ वैसी नहीं हैं, जैसी लिखित साहित्य की; इसीलिए इनके भावना निर्मित विश्वासों में उतना शीघ्र परिवर्तन नहीं होता जितना साहित्य के क्षेत्र में हो सकता है। इसलिये इनसे युग प्रभावित अधिक समय तक और अधिक मात्रा में होता रहता है। जन-साहित्य में अलौकिक प्रभाव सदैव ही वर्तमान है। जीवन में जहाँ कोई कठिनाई आ उपस्थित होती है उसी समय कोई न कोई अलौकिक घटना घटित हो जाती है। इन ग्राम-गीतों में शिव और पार्वती तो सदैव ही प्रकट होने को उत्सुक रहते हैं। उनके प्रकट होते ही जीवन व्यवस्थित हो जाता है और दिन फिर जाते हैं। हमारे साहित्य में धर्म की भावना विशेष रूप से कार्य करती रही है। अतः हमारी साहित्यिक और सामाजिक परंपराओं में अलौकिकता और जड़ का मानवीकरण प्राचीन काल से ही होता आया है।

न्याय भावना की कसौटी पर यह अलौकिकता या मानवीकरण सदैव प्रतीकों का पोषक रहा है। रामायण के दस सिर वाले रावण

की आकृति महाभारत में दस हजार हाथियों के बल वाले भीम की आकृति में नहीं रही। यदि न्याय-भावना का विकास न हुआ होता तो जिस तरह रावण के कंधों पर दस सिरों का रूप है, उसी भाँति भीम के शरीर से भी दस हजार हाथियों की सूँड़ें निकली रहतीं। इससे स्पष्ट है कि रामायण काल की अलौकिकता महाभारत काल में नहीं रह गई थी और पात्रों और कार्य व्यापारों के निरूपण में मानव-दृष्टि अधिक स्वस्थ हो गई थी। ऐसी स्थिति में न्याय-भावना अधिक से अधिक विवेक के आश्रय में पोषित होना चाहती है। लोकगीतों में नारी और नदी के प्रश्नोत्तर केवल नारी के हृदय में नदी को देखकर उठे हुए मनोभावों की प्रतिक्रिया में समझे जाने चाहिए, जिन्हें प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनाने के लिये अभिनयात्मकता प्रदान कर दी गई है।

इस प्रकार साहित्य में न्याय-भावना का विकास हमारे विवेक और सहानुभूतिपूर्ण जीवन के विकास का द्योतक है।



हास्य और व्यंग्य

If you laugh all round him, tumble him, roll him about; deal him a smack and drop a tear on him, own his likeness to you and yours to your neighbour, spare him as little as you shun, pity him as much as you expose, it is a spirit of Humour that is moving you.

—Meredith

प्राचीन दृश्य काव्य में हास्य का विधान दो रूपों में किया जाता था। एक तो विदूषक की उक्तियों में और दूसरे प्रहसन की परिस्थितियों में। इस प्रकार पात्रों की वार्ता और परिस्थितियाँ दोनों ही हास्य की अवतारणा करती थीं। नाटक में विदूषक नायक का सहचर था। जिन नाटकों में शृङ्गार रस प्रधान होता था उनमें विदूषक आवश्यक हो जाता था क्योंकि आचार्य भरत ने “शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः” सूत्र में हास्य की उत्पत्ति शृङ्गार से ही मानी थी। धीरोदात्त नायक जब जब प्रेम के संझावात में तिनके की तरह अव्यवस्थित होता था तब तब उसका मनोरंजन करने के लिए अथवा आशा देने के लिए विदूषक अपने हास्य का प्रयोग करता था। किन्तु हास्य केवल शृङ्गार से ही प्रेरणा नहीं पाता, जीवन की

अनेक परिस्थितियों से बल ग्रहण करता है। अभिनव गुप्त ने हास्य का मूल अनौचित्य प्रवृत्ति में माना है। अनौचित्य प्रवृत्ति प्रत्येक रस के उद्दीपन या आलम्बन में हो सकती है अतः प्रत्येक रस में हास्य की संभावनाएँ हो सकती हैं। आज जब जीवन का मूल्यांकन रस दृष्टि से न होकर केवल मनोविज्ञान के सिद्धान्त से हो रहा है तब तो हास्य का बीज पत्थर पर भी अंकुरित हो सकता है और यह बीज इतना विचित्र है कि इसमें अनेक रंगों के फूल एक साथ ही प्रस्फुटित हो सकते हैं।

आचार्य भरत ने हास्य के दो विभाग किए हैं, आत्मस्थ और परस्थ। जब पात्र स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ है जब दूसरे को हँसाता है तो परस्थ है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसका विवेचन दूसरे ढंग से किया। हास्य के विभाव को देखने से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है और किसी अन्य को हँसता हुआ देख कर जो हास्य उत्पन्न होता है वह परस्थ है।

वस्तुतः अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया, उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीन प्रकारों में प्रत्येक के दो भेद हैं। उत्तम के भेद हैं स्मित और हसित, मध्यम के भेद हैं विहसित और उपहसित तथा अधम प्रकार के भेद हैं अपहसित और अति-हसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते हैं। इस भाँति हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है :

हास्य के जो छः विशिष्ट प्रकार हैं, उनकी विशेषता निम्नलिखित है :—

(१) स्मित—शब्द रहित मन्द मुस्कान

(२) हसित—मुस्कान के साथ दन्त-दर्शन

३ विहसित—दन्त-दर्शन के साथ मधुर शब्द

(स्त्रियों के कंठ से 'ई' स्वर)

(पुरुषों के कंठ से 'आ' 'ऊ' या 'ओ' स्वर)

४ अवहसित—मधुर शब्द के साथ शरीर-संचालन

५ अपहसित—शरीर संचालन के साथ हर्षाश्रु

६ अतिहसित—इर्षाश्रु के साथ ताली और अट्टहास ।

हास्य के ये प्रकार हँसने के मनोभावों के विकास के आधार पर ही हैं । उस विकास में अनुभावों की रूप रेखा भी दृष्टि में रखी गई है । किन्तु जब 'हास्य' के क्रोड में विनोद मात्र न होकर कोई 'छल' हो, प्रकट हो गई वस्तु को छिड़ाने का भाव हो अथवा ध्वनि विकार से या श्लेष से अभिप्राय का रूपान्तर हो तो वह 'हास्य' रहते हुए भी एक नवीन कोटि की सृष्टि करेगा । हास्य के इस रूपान्तर को हमारे यहाँ के आचार्यों ने 'रस' के अन्तर्गत न रख कर अलंकार के अंतर्गत रक्खा है । यही कारण है कि हमारे अलंकार-ग्रंथों में हास्य की इस कोटि को व्याजोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और वक्रोक्ति आदि अलंकारों द्वारा व्यक्त किया गया है ।

आचार्य मम्मट ने इन अलंकारों के लक्षण निम्न प्रकार से दिए हैं :—

व्याजोक्ति—व्याजोक्तश्छद्मनोद्भिन्न वस्तु रूप निग्रहनम् ॥१०॥११८

(प्रकट हुई वस्तु को छल से गोपन किया जाय ।

अप्रस्तुत प्रशंसा—अप्रस्तुत प्रशंसा या सैव प्रस्तुताश्रया ॥१०॥१६८

(प्रस्तुत के आश्रय से अप्रस्तुत का वर्णन)

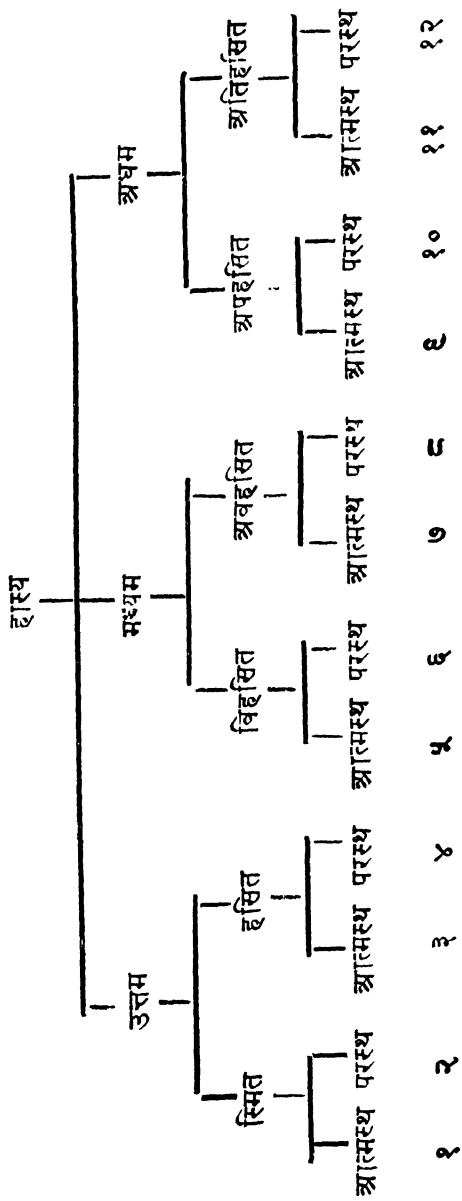
वक्रोक्ति—यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।

श्लेषेण वाक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥१॥७८

(एक प्रकार से कहा हुआ वाक्य श्लेष अथवा ध्वनि-विकार से दूसरे प्रकार के अभिप्राय से जोड़ दिया जाय)

शब्द शक्तियों में लक्षणा और व्यञ्जना भी लक्ष्य या व्यंग्य (ध्वनि) से हास्य की उत्पत्ति कर सकती हैं ।

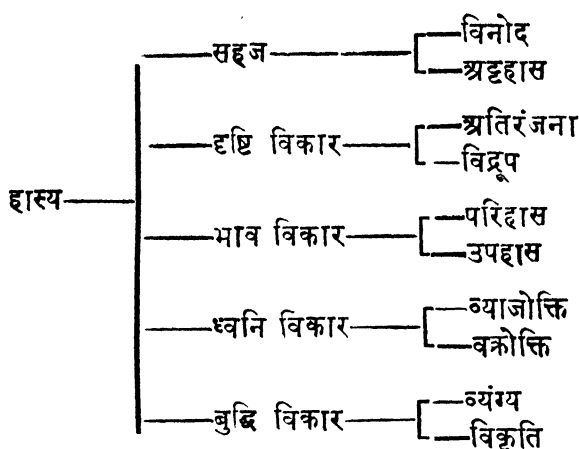
पाश्चात्य साहित्य में हास्य-(Humour) ने मनोविज्ञान का



आश्रय लेकर अनेक रूप धारण किए हैं जिनमें प्रमुख ये हैं:—

- (1) SATIRE (विकृति)—आक्रमण करने की दृष्टि से वस्तु स्थिति को विकृत कर उससे हास्य उत्पन्न करना ।
- (2) CARICATURE (विरूप अतिरंजना) किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थिति को अनुपात रहित बढ़ा कर या गिरा कर हास्य उत्पन्न करना ।
- (3) PARODY (परिहास) उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ से जोड़ कर हास्य उत्पन्न करना ।
- (4) IRONY (व्यंग्य) किसी वाक्य को कह कर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना ।
- (5) WIT (वचन वैदग्ध्य) शब्दों तथा विचारों का चमत्कार पूर्ण प्रयोग । फ्रायड ने इसे दो प्रकार का माना है । सहज चमत्कार (Harmless wit) और प्रवृत्ति चमत्कार (Tendency wit) । सहज चमत्कार में केवल विनोद मात्र रहता है किन्तु प्रवृत्ति चमत्कार में ऐन्द्रियिक या प्रतिकारात्मक भावना रहती है ।

मैंने पिछले पच्चीस वर्षों में एकांकी नाटकों के क्षेत्र में जो प्रयोग किए हैं । वे पश्चिम की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी भारतीय नाट्य शास्त्र के क्रोड में पोषित हुए हैं । संभवतः इसीलिए मेरे नाटकों में यथार्थवाद से उद्भूत एक नैतिक आदर्शवाद है और परिस्थितियों के विचित्र संघर्षों में रस की स्थिति में मेरा विश्वास है । यह सब मैंने रूढ़िवाद के शिकंजे से मुक्त होकर ही करने का प्रयत्न किया है नहीं तो नवीन प्रयोगों के लिए मुझे कोई क्षेत्र ही न मिलता । इस प्रयोगों को ध्यान में रख कर हास्य के विभागों को मनोविज्ञान में स्थापित कर मैंने हास्य के पाँच भेद किए हैं जिसमें प्रत्येक के दो-दो प्रकार हैं :—



इस भाँति हास्य सहज विनोद से चलकर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धि में लाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृति में समाप्त होता है और अपनी यात्रा में मनोविज्ञान की सभी स्थितियों से गुज़र जाता है। सहज भाव में जब परिस्थितियों की प्रतिक्रिया होने लगती है तभी विकार आरंभ हो जाता है। सब से पहले यह विकार दृष्टि में आता है फिर वह भाव में परिणत होता है। भाव ध्वनि में प्रकट होता है और ध्वनि की प्रतिक्रिया में बुद्धि विकार होता है। इस भाँति यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय जो बुद्धि विकार दो प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होता है और ये प्रतिक्रियाएँ हैं दृष्टि की तथा ध्वनि की। इसीलिए हास्य के अंतर्गत व्यंग्य और विकृति की रचना गहरी दृष्टि और विस्तृत अनुभव की अपेक्षा रखती है।

सहज के दो रूप हैं विनोद और अट्टहास। इन दोनों में केवल हास्य की निरीह और निर्दोष भावनाएँ हैं जो हृदय को चिन्ता से मुक्त कर प्रसन्नता का वरदान देती हैं। विनोद तो एक बुलबुले की भाँति भावलहरों पर तैर कर फूट पड़ता है और अट्टहास बढ़ती हुई लहर की भाँति जीवन के दोनों तटों को अपनी बाहु में समेट लेना

चाहता है अतः इन दोनों का चित्र मेरी कल्पना में क्रमशः एक बिन्दु (०) और एक वर्तुलाकार रेखा (V) की भाँति है। दृष्टि विकार दो प्रकार से होता है एक अतिरंजना में अर्थात् वस्तु या परिस्थिति को अनुपात रहित घटा-बढ़ा देने में जैसे कोई कार्टून बनाने वाला छोटे शरीर पर बड़ा सिर बना दे या छोटे सिर में बड़े हाथ-पैर जोड़ दे और दूसरे विद्रूप में (अर्थात् परिस्थितियों को उलट देने में जैसे उल्टबाँसियों में हास्य के दर्शन होते हैं)। अतिरंजना और विद्रूप वस्तु स्थिति की सभी दशाओं में हो सकता है इस भाँति इनका रूप मेरी कल्पना में चतुर्भुज है। एक सीधा $\triangle$ दूसरा उलटा ∇ ।

भाव विकार दो रूप में होता है एक परिहास में जिसमें उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ से जोड़ दिया जाता है। और उपहास जिसमें उदात्त मनोभाव ही अनुदात्त हो जाता है। इस भाँति उपहास परिहास का ही विकसित रूप है। मेरी कल्पना में परिहास त्रिभुज है $\triangle$ और उपहास त्रिभुज की नीचे की ओर बढ़ी हुई रेखाएँ A हैं। ध्वनि विकार व्याजोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में प्रकट होता है व्याजोक्ति में प्रकट को गुप्त कर देने का वाणी चातुर्य है और वक्रोक्ति में संदर्भ ही बदल देने की मनोवृत्ति है जो ध्वनि-विकार से भी संभव है। व्याजोक्ति का रूप वाणी के चतुर्दिक् चातुर्य से वर्गाकार $\square$ है जो वक्रोक्ति में वक्र रेखाओं से {} निमित्त होता है।

बुद्धि विकार व्यंग्य और विकृति से व्यक्त होता है। व्यंग्य बढ़ा तीखा है। वह कहता एक बात है और मतलब दूसरी बात का हो जाता है। यह बहुरूपिया है। अमृत में विष डालना या फूल में कीट बनकर पहुँचना इसी का काम है। विष में बुझे हुए बाणों के नोक की भाँति यह तीखा है। मेरी कल्पना में इसका चित्र बाण के मुख की भाँति $\wedge$ है। विकृति तो व्यंग्य और विद्रूप से संभव होकर वस्तु की सुचारुता को विचित्र तरह से मोड़ देती है। इसका रूप बाणों की उलटी और सीधी नोकों के अन्तर्व्याप्त होने में है।

संत काव्य का भाव-पक्ष

संत संप्रदाय अपने भाव पक्ष में विशेष संगठित है। इसके तीन विभाग किए जा सकते हैं :—धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक।

धार्मिक—संत संप्रदाय का धर्म विश्व-धर्म है। इसमें न तो किसी प्रकार का कर्म कांड है न वर्ग और वर्ण का भेद है। मानव मात्र का स्वाभाविक और सात्विक आचरण ही धर्म है। इस धर्म का मूलाधार हृदय की पवित्रता है। जब तक हृदय संसार की वासनाओं से मुक्त होकर पवित्र नहीं होता तब तक वह ईश्वरानुभूति के योग्य नहीं हो सकता। मैले कपड़े पर किसी प्रकार रंग नहीं चढ़ सकता। कपड़े पर गहरा रंग चढ़ाने के लिए उसे धोने की आवश्यकता है। इसलिए संत संप्रदाय के मन शरीर को चुनरी (कपड़ा) कहा गया है और सद्गुरु को रँगरेज :—

सद्गुरु है रँगरेज, चुनरी मेरी रंग डारी।

: क : विधि और निषेध—इसी हृदय की पवित्रता के लिए विधि और निषेध की आवश्यकता है। हृदय को शुद्ध रखने के लिए कुछ कार्य विधेय हैं, कुछ वर्ज्य हैं—उदाहरण के लिए उदारता, शील, क्षमा, संतोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक ग्रहण करने योग्य हैं और काम, क्रोध, लोभ, कपट, तृष्णा, कनक और कामिनी, निन्दा, मांसाहार, तीर्थव्रत का आडम्बर आदि छोड़ने योग्य हैं।

संत संप्रदाय में इस पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। बार बार हृदय की पवित्रता के लिये निषेध के अन्तर्गत गुण-ग्रहण और दोष परिहार पर उपदेश दिए गए हैं।

: ख : गुरु—विधि निषेध का वास्तविक ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक कि गुरु का मार्ग दर्शन प्राप्त न हो। इस संप्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। वह ब्रह्म से भी ऊँचा है। क्योंकि—

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया बताय।

गुरु के बिना ज्ञान अधूरा है वही ज्ञान दीपक हाथ में देकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर कराता है। ब्रह्म की अनुभूति उसी के इंगित मार्ग से होती है। इस भाँति साधना में गुरु का स्थान अद्वितीय है।

: ग : नाम स्मरण—इस धर्म में किसी कर्मकांड के लिए स्थान नहीं है न मूर्ति पूजा, न तीर्थव्रत, न जपमाला-छापा-तिलक। इसका आचार एक मात्र नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन है। इस मानसिक भक्ति में सत्संग का विशेष स्थान है, साधु पुरुषों के साथ मन की पवित्रता बढ़ती है और नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन की ओर मन आकृष्ट होता है।

इस भाँति संत संप्रदाय का धर्म विधि-निषेध, गुरु और नाम-स्मरण के आधार पर ही संगठित है।

दार्शनिक—संत संप्रदाय का दर्शन किसी विशेष शास्त्र से नहीं लिया गया। शास्त्रों में कबीर की आस्था नहीं थी, क्योंकि शास्त्र एक दृष्टिकोण विशेष से लिखे जाते हैं और वे साम्प्रदायिकता के आधार पर ही टिके होते हैं। यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि कबीर ने धर्म और दर्शन को संप्रदाय की सम्पत्ति नहीं समझा, क्योंकि वे अपने धर्म और दर्शन में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं लाना चाहते थे। शास्त्र और दर्शन के अध्ययन से अहंकार भी बढ़ता है और दर्शन में अहंकार के लिए स्थान नहीं है, उसमें तो अनुभूति और

विश्वास ही होना चाहिए। शास्त्रीय जटिलताओं से अनुभूति सुसाधित नहीं होती। अतः सन्त सम्प्रदाय का दर्शन उपनिषद्, भारतीय षट् दर्शन, बौद्ध धर्म, सूफी सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय की विश्वजनीन अनुभूतियों के तत्वों को मिला कर सुसंगठित हुआ है। ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आए, वरन् शताब्दियों की अनुभूति तुला पर तुल कर महात्माओं की व्यवहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर सत्सङ्ग और गुरु के उपदेशों से संग्रहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बूँद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धि मधु में नहीं है, उस मधु-निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्प-तीर्थों की यात्रायें सन्निविष्ट हैं, अनेक पुष्पों की क्या रियाँ मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं उसी प्रकार सन्त सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।

संत दर्शन में चार तत्वों की प्रधानता है। ब्रह्म, जीव, माया और जगत्। इन पर संक्षेप में विचार करना है।

ब्रह्म—सन्त सम्प्रदाय का ब्रह्म एक है, उसका रूप और आकार नहीं है। वह निर्गुण और सगुण से परे है। वह संसार के कण कण में है। वह मूर्ति अथवा तीर्थ में नहीं, वह हमारे शरीर में ही है, हमारी प्रत्येक साँस में है। वह अवतार लेकर नहीं आता, वरन् संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान है। इसका न तो वर्णन हो सकता है, न कल्पना के द्वारा ग्रहण होता है। वह अनुभव गम्य है। गूँगे का गुड़ है। उसके अनेक नाम हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय के ईश्वर सम्बन्धी नाम उसके नाम हैं। वह न वर्गों में बाँटा जा सकता है न जातियों में। ब्राह्मण, शूद्र और मुसलमान का एक ही ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म एक अनादि, अनन्त और निर्गुण सगुण से परे है। वह शून्य है, निरंजन है अच्युत है, उसकी प्राप्ति भक्ति के अन्तर्गत प्रेम और अनुभूति से तथा योग के अंतर्गत समाधि से हो सकती है।

इस साधना में गुरु मार्ग-दर्शक है। शिष्य को परमात्मा से मिलाने के कारण गुरु का स्थान स्वयं परमात्मा से ऊँचा है।

जीव—ब्रह्म और जीव में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है, दोनों की एक ही सत्ता है, किन्तु माया द्वारा दोनों में अंतर भासित होता है। माया को दूर करने के लिए साधना की आवश्यकता है। इस साधना से ब्रह्म और जीव पुनः एक दृष्टिगत होते हैं।

जीव माया से आक्रान्त होकर अविद्या के वशीभूत होता है। यह अविद्या गुरु द्वारा दूर की जाती है और वही जीव को भक्ति का मार्ग बतलाता है। जीव से लिए ब्रह्म का रूप जानना (अर्थात् आत्मबोध प्राप्त करना) कठिन होता है। इसलिये उसके माध्यम से ब्रह्म को प्रतीकों के रूप में अनुभव की भूमि पर लाने की आवश्यकता होती है। ये प्रतीक माता पिता, स्वामी मित्र अथवा पति का सम्बन्ध निरूपित करते हैं। इन प्रतीकों में पति या प्रियतम का प्रतीक सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि दाम्पत्य भाव ही में प्रेम की पूर्णता है। इस प्रतीक में ब्रह्म प्रियतम बन जाता है और जीव विरहिणी, जो प्रियतम के विरह में संतप्त है। इस विरह में प्रेम कंचन की भाँति निर्मल हो जाता है। इस दाम्पत्य रति का अनुसरण कर प्रियतमा के रूप में जीव अपने प्रियतम ब्रह्म में आत्म-समर्पण कर देता है। इस आत्म-समर्पण में आनन्द की जो अनुभूति है उसी का नाम रहस्यवाद है। तत्त्वदर्शी कोटि के सन्तों ने रहस्यवाद का आश्रय ग्रहण कर ब्रह्म और जीव के मिलन का मार्ग स्पष्ट किया है, अन्यथा माया के प्रभाव से जीव और ब्रह्म में मिलाप होने की सम्भावना ही नहीं होती। यदि इन प्रतीकों की स्थापना न होती तो रहस्यवाद की भी सृष्टि नहीं हो सकती थी। योग के नाड़ी-साधन तथा षट्-चक्र बेधन से सहस्रदल कमल स्थित ब्रह्म की अनुभूति समाधि द्वारा सम्भव है, किन्तु जीव के लिए सरल मार्ग प्रतीकों द्वारा ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त करना ही है।

ब्रह्म और जीव का यह मिलन कभी रहस्यवाद के अंतर्गत है

कभी अद्वैतवाद के अंतर्गत । वस्तुतः रहस्यवाद और अद्वैतवाद में विशेष अन्तर नहीं है । जो अन्तर है, वह यही कि अद्वैतवाद में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता का निषेध है—

ज्यों जल में जल पैसि न निकसे, यों दुरि मिला जुलाहा ।

किन्तु रहस्यवाद में जीव की सत्ता, ब्रह्म में स्थित होते हुए भी अलग है । जीव की यह स्थिति विशिष्टाद्वैतवाद के अंतर्गत भक्ति की चरम सिद्धि के अनुरूप ही है । नारदीय भक्ति सूत्र के अनुसार भक्त ब्रह्म में स्थित होता हुआ भी ब्रह्म से अलग सत्ता का अधिकारी है । यही स्थिति रहस्यवाद की है । यदि जीव की अलग सत्ता न होगी तो वह ब्रह्म के मिलाप की आनन्दानुभूति कैसे कर सकेगा । आनन्द का केन्द्र कहाँ होगा । 'मैं' के अहंकार का विनाश तो होता है, किन्तु 'मैं' की स्थिति रहना आवश्यक है ।

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल ।

लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥

यदि ब्रह्म और जीव की स्थिति एक हो जाती तो 'मैं' के कहने की भी आवश्यकता ही न रहती ।

ब्रह्म और जीव एक ही सत्ता के दो रूप भासित होते हैं । जल लहर की भाँति दोनों कहने को तो अलग हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों एक ही हैं । उनमें अन्तर नहीं है ।

माया—संत संप्रदाय में माया अद्वैतवाद की माया की भाँति भ्रमात्मक और मिथ्या तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त वह सक्रिय रूप से जीव को सत्पथ से हटाने वाली भी है । इस दृष्टि से सन्त-सम्प्रदाय में माया का मानवीकरण है । यह मानवीकरण एक नारी के रूप में है, जो ठगिनी है, डाक़िनी है, सब को खाने वाली है । सम्भवतः यह सूफीमत के शैतान का ही प्रतिरूप है । इस माया की सत्ता समस्त सृष्टि में है । पाँच इन्द्रियों और पचीस प्रवृत्तियों का इसको सहारा है । इन्हीं से वह जीव को संसार के मिथ्या उपभोगों

में नष्ट करती है । कामिनी और कंचन ही संसार को ईश्वर की दिशा में जाने से रोकते हैं ।

इस भाँति माया का मानवीकरण निम्नप्रकार से है :—

१—वह त्रिगुणात्मक है ।

२—वह सत्य के विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है ।

३—वह कंचन और कामिनी के आकर्षण सूत्र से जीवों को सत्पथ से हटाने वाली है ।

४—वह खाँड की तरह मीठी है, किन्तु उसका प्रभाव विष के समान है ।

५—संसार में जितनी भी आकर्षक और मोह में आबद्ध करने वाली वस्तुएँ हैं, वे सब माया की रस्सियाँ हैं ।

६—इसके प्रतिकार के लिए दो युक्तियाँ हैं :—

(क) ब्रह्म का विरह—जिसमें मन को कुछ अच्छा नहीं लगता । फल स्वरूप माया के समस्त आकर्षण समाप्त हो जाते हैं ।

(ख) ब्रह्म से होली—जिसमें मिलन की आकांक्षा बलवती हो जाती है जिसके आगे अन्य आकर्षण तुच्छ हो जाते हैं ।

ये दोनों युक्तियाँ रहस्यवाद के अन्तर्गत हैं जो अनुभूति सम्पन्न हैं ।

७—इसका विनाश दो प्रकार से होता है :—

(क) भक्ति—जिससे ब्रह्म के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है ।

(ख) सत्संग—जिससे मन के विकार दूर होते हैं । ये दोनों प्रकार साधना के अन्तर्गत हैं जो अभ्यास की अपेक्षा रखते हैं । कबीर ने माया के सम्बन्ध में कड़ी चेतावनी दी है । यह विश्वास-घातिनी है । अस्थिर है, इसने संसार को ठगा है । यह केवल अज्ञान नहीं है वरन् अज्ञान में ले जाने वाली अहेरिन हैं :—

सकल माँहि नकटी का वासा, सगल माँरि अउहेरी ।

सगलिआ की हउ बहिन भानजी, जिनहि बरी तिसु चेरी ॥

हमरो भरता बड़ो विवेकी आपै सन्तु कहावै ।

होहु हमारे माथे काइसु, अउरु हमरे निकट नहिं आवै ॥^१

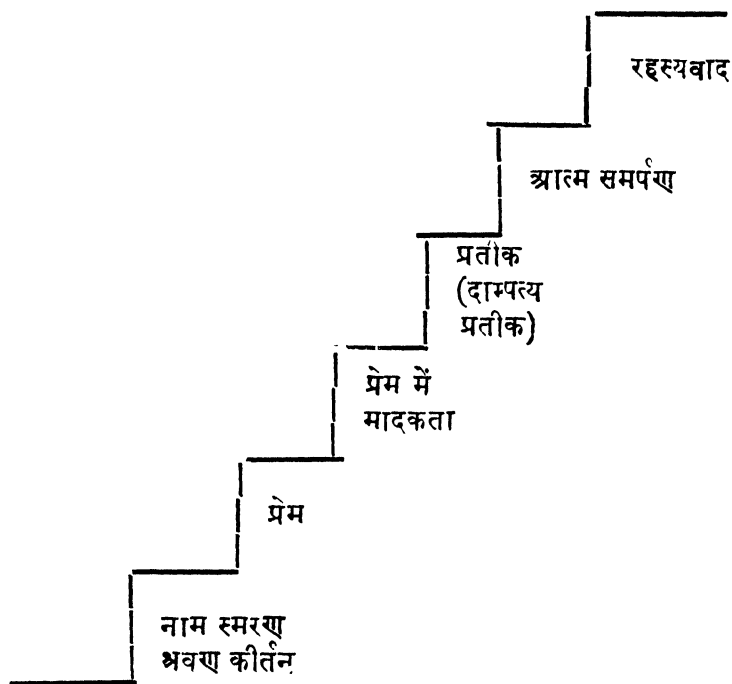
जगत्—सन्त सम्प्रदाय में जो कुछ दृष्टि में आता है वह जगत् है । वह चंचल है, गतिशील है । उसमें स्थिरता नहीं है, वह नश्वर है । माया ने ही उसका निर्माण किया है, इसलिए वह प्रेमात्मक है । धन, वैभव, आडम्बर, विलास, सुख, दुख ये सब जगत् के रूप हैं । यह जगत् चार दिनों की चाँदनी है । दिन की हाट है जो शाम होने पर उठ जाती है । इस पर विश्वास करना अपने आप से छल करना है । संत कवियों ने जगत् की निस्सारता के सम्बन्ध में विस्तार से उपदेश दिया है । ब्रह्म, जीव, माया और जगत् का निरूपण हो चुकने पर साधना पर विचार करना चाहिए । यह साधना गुरु द्वारा स्पष्ट की जाती है । इस साधना के दो रूप हैं :—
साधना—

(१) भक्ति—जिसके अन्तर्गत रहस्यवाद है !

(२) योग—जिसके अन्तर्गत एक ओर तो नाड़ी साधना और षट्-चक्र हैं ही दूसरी ओर सहज समाधि है । जो अन्ततः रहस्यवाद के समीप पहुँचती है ।

भक्ति—भक्ति निश्छल और निर्विकार होनी चाहिए । विधि निषेध से जब मन शुद्ध हो जाता है तभी उसमें नाम स्मरण की भावना उत्पन्न होती है । नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन से संपुष्ट होता है । कीर्तन से प्रेम की स्थिति होती है, फिर इस प्रेम में मादकता आती है । जब प्रेम में मादकता आ चुकती है तब प्रतीकों का आविर्भाव होता है दाम्पत्य प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना का उदय होता है । आत्म-समर्पण जो ब्रह्मानुभूति होती है उसी के

आनन्द में रहस्यवाद की स्थिति आती है। इस विकास का रेखाचित्र निम्न प्रकार से है :—



विधि निषेध से हृदय-शुद्ध

ऐसा ज्ञात होता है कि संत सम्प्रदाय के रहस्यवाद में वैष्णव भक्ति के प्रेम का उत्कर्ष और सूफीमत के इश्क की मस्ती का योग है। इसमें कर्मकांड का निषेध है और आनन्द की अनुभूति है।

योग

नाथ सम्प्रदाय की श्रृङ्खला में सन्त सम्प्रदाय का विकास होने के कारण योग की साधना सन्त कवियों को सहज ही प्राप्त हो गई। किन्तु इसका महत्व स्थिर नहीं रह सका। इसके तीन कारण थे !

१—योग की क्रियायें सहज साध्य नहीं थीं। नाथ सम्प्रदाय में

योग सम्बन्धी बहुत सी बातें थीं जो केवल सम्प्रदाय के मान्य शिष्यों को ही बतलाई जाती थीं; सामान्य रूप से उनका प्रचार नहीं था और वे गुप्त और साम्प्रदायिक थी।

२—सन्त सम्प्रदाय के साधक समाज के सामान्य या निम्न वर्ग के व्यक्ति थे जिनके पास शास्त्र की कोई परम्परा नहीं थी।

३—भक्ति का प्रचार उत्तर भारत में जिस तीव्र गति से हुआ उसके समक्ष योग सम्बन्धी आस्था डगमगा चुकी थी और सन्त सम्प्रदाय के कवि अपने निराकार ब्रह्म के लिए भी भक्ति का आधार खोजने लगे थे।

इस भाँति सन्त सम्प्रदाय में योग का, और वह भी हठयोग का परंपरागत रूप ही ब्रह्मानन्द के मिलन का आनन्द स्पष्ट करने के लिए प्रतीक रूप से सुरक्षित रह गया था। इडा (इंगला), पिंगला, सुषुम्ना (सुखमन) नाडियाँ, कुण्डलिनी, षट्चक्र, त्रिकुटी, सहस्रदल, कमल का चन्द्र, ब्रह्मरन्ध्र, उससे द्रवित होने वाला अमृत, कुण्डलिनी द्वारा षट्चक्र वेध होने तथा सहस्रदल कमल तक पहुँचने पर अनहद नाद और अजपा जाप की सिद्धि यही विविध शब्दों, रूपकों और प्रतीकों स्पष्टमें हुआ है। उदाहरण के लिए कबीर का एक पद लीजिये :—

बंधचि बंधनु पाइआ । मुकतै गुरु अनलु बुझाइआ ।

जब नखसिख इहु मन चीन्हा । तब अन्तर भजनु कीन्हा ।

पवन पति उन्मनि रहनु खरा । नहीं मिरतु न जनमु जरा ॥१॥

उलटीले सकत सहारं । पसीले गगन मझारं ।

बेधीअले चक्र भुअंगा । भेटीअले राह निसंगा ॥२॥

चूकीअले मोह महआसा । ससिकीनो सूर गिरासा ।

जब कुमंकु भरि पूरि लीणा । तह बाजे अनहद वीणा ।

बकतै बकि सबहु सुनाइआ । सुनतै सुनिमनि बसाइआ ।

करि करिता उतरसि पारं । कहै कबीरा सारं^१ ।

इस योग का महत्व केवल एक दृष्टि से सन्त संप्रदाय में मान्य है। वह दृष्टि है अजपा जाप की और उससे सम्बन्ध रखने वाली सहज या सहज समाधि की।

जब प्राणायाम साधन से मूलाधार चक्र में स्थिति कुण्डलिनी सुषुम्णा नाडी के अर्न्तगत ऊपर चढ़ती हुई इडा और पिंगला के वर्तुल मिलन केन्द्रों को (जिन्हें चक्रों की संज्ञा दी जाती है) पार कर चुकती हैं और सद्बल कमल में स्थित ब्रह्म रन्ध्र का द्वार खोलती है तो मस्तिष्क में अनाहत नाद होने लगता है और रोम रोम से शब्द ब्रह्म की संकृति होने लगती। इस संकृति को ही अजपा जाप कहते हैं जिसके किए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती; वह साँस के आवागमन की भाँति स्वाभाविक रूप से होने लगता है।

सहजै ही धुन होत हैं, हरदम घट के मॉहि।

सुरत शब्द मेला भया, सुख की हाजत नॉहि॥

इस अजपा जाप का ही विकसित रूप सहज समाधि है। जब अजपा जाप का यह स्वाभाविक आयास-रहित क्रम जीवन के प्रत्येक कार्य यापार में अवतरित हो जाता है तब वह अवस्था सहज समाधि की है। यह समाधि जाग्रति समाधि है। कबीर ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

सन्तो सहज समाधि भली।

साँई से मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली।
 आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न घमऊँ।
 खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।
 कहुँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
 गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा।
 जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा जो कछु करौँ सो सेवा।
 जब सोऊँ तब करूँ दंडवत, पूजूँ और न देवा।

सब्द निरंतर मनुआ रातां मलिन वचन को त्यागी ।
 ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी ।
 कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गई ।
 सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई ।

इस सहज समाधि के दो रूप हैं । पहला रूप तो हठयोग की सिद्धि के फलस्वरूप है जिसमें अजपा जाप की स्फूर्ति इन्द्रियों में भी अवतरित होकर उन्हें विशुद्ध कर देती है और दूसरा रूप वह है जब जीवन के समस्त कार्य-व्यापार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में आ जाते हैं । दूसरे शब्दों में जब चित्तवृत्तियों का साधारणीकरण हो जाता है । माया मोह से मुक्त होकर जीवन विशुद्ध हो जाता है और तभी उसमें परमात्मा के दर्शन होते हैं । संत कबीर ने इस सहज का वर्णन करते हुए लिखा है :—

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
 जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ ।
 सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
 पाँचू राखे परसती, सहज कहीजै सोय ।
 सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
 जिन्ह सहजै हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ ।^१

वास्तव में चित्त वृत्तियों को विषय से मुक्त करना बहुत ही कठिन है, इसलिए सहज अवस्था प्राप्त करना भी अभ्यास साध्य है ।

श्री परशुराम चतुर्वेदी इस सहज को स्वाभाविक अनुराग का नाम देते हैं जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम-पात्र या प्रेमी के प्रति हुआ करता है । बौद्ध दर्शन में महासुख के रूप में और वैष्णव सहजिआ में राधाकृष्ण के नित्य प्रेमी में इस सहज का प्रयोग

१—कबीर ग्रन्थावली : सहज को अङ्क पृ० ४१-४२ सम्पादक,
 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

चतुर्वेदी जी मानते हैं।^१ सम्भव है बौद्ध साहित्य और वैष्णव सह-जिआ साहित्य में सहज का यही तात्पर्य हो, किन्तु संत संप्रदाय में सहज का यह अर्थ नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि संत कबीर ने सहज का प्रयोग जहाँ कहीं किया है, अधिकतर योग से संबंध रखने वाले शब्दों के साथ ही किया है। उपर्युक्त पद में सहज के साथ समाधि शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं सहज के साथ शून्य का प्रयोग है :—

अबरन बरन घाम नहीं छामा ।

अबरन पाइअ गुर की सामा ।

टारी न टरै आवै न जाइ ।

सुन सहज महि रहिओ समाय ।^२

इस भाँति कबीर के चरम साधनों के दो मुख्य रूप हैं : भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद, योग के अन्तर्गत सहज समाधि ।

सामाजिक—संत सम्प्रदाय ने सामाजिक दृष्टि के निर्माण में आध्यात्मिक दृष्टि का ही आश्रय लिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता कण कण में वर्तमान है। जब समस्त सृष्टि ही ब्रह्ममय है तो वस्तु और व्यक्ति में भेद कैसा। कबीर ने कहा है।

लोका जानि न भूलो भाई ।

खालिक खलक-खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई ।

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा ।

ता नूर थे सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा ।

ता अला की गति नहिं जानी गुरि गुड़ दीया मीठा ।

कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा ।^३

१—उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ६२

२—संत कबीर पृ० २२६ ।

३—संत कबीर

समाज की व्यवस्था तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि विविध व्यक्तियों और वर्गों का समुचित संगठन न हो। संत सम्प्रदाय में जो विधि निषेध का आग्रह है वह इसलिए कि व्यक्ति-गुणों के ग्रहण और दोषों के त्याग से अपने जीवन को सात्विक बना सके। यह सात्विकता जहाँ एक ओर धार्मिक जीवन की संभावनाएँ उपस्थित करती है वहाँ दूसरी ओर वह समाज में नैतिकता का प्रसार भी करती है। नीति के नींव पर जिस समाज का संगठन होता वह स्थायी और दृढ़ होता है। संत सम्प्रदाय ने समाज की व्यवस्था में पवित्र जीवन को अधिक महत्व दिया है।

समाज में जितने कम वर्ग होंगे—जितनी कम जातियाँ होंगी, समाज की एकरूपता उतनी ही अधिक होगी। संत सम्प्रदाय ने वर्ग और जाति में अपना विश्वास नहीं रखा। यहाँ तक कि ब्राह्मण और शूद्र तथा हिन्दू और मुसलमान के भेद हटाने का प्रयत्न शताब्दियों तक संत सम्प्रदाय द्वारा होता रहा। यही कारण है कि समाज पर बाहर और भीतर से अनेकानेक आक्रमण होते रहे; किन्तु यह समाज नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो सका। आज भी जो निम्न जातियाँ धर्म में आस्था रखती हैं तथा समाज के अन्तर्गत हैं, वह अधिकांश में संत सम्प्रदाय का ही प्रभाव है। आज धर्म और समाज अलग-अलग हैं, किन्तु शताब्दियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिस समाज की नींव धर्म पर होगी वह समाज स्थिर रहेगा। धर्म रहित होकर समाज छिन्न भिन्न हो जायगा।

सन्त साहित्य की धार्मिक पृष्ठभूमि

हिन्दी-साहित्य में भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली भाव-धारा के अन्तर्गत संत-काव्य का विशेष महत्त्व है। यद्यपि भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियों को संत कहा जा सकता है, तथापि संत-काव्य उन्हीं कवियों की 'बानियों' का नाम है, जिन्होंने निर्गुण-सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य रचना की है। यह निर्गुण-सम्प्रदाय भक्ति युग के पूर्वार्द्ध में उन समस्त परम्पराओं से प्रभावित है, जो उस समय दक्षिण और उत्तर भारत में मान्य हो रही थीं। यह बात दूसरी है कि संत काव्य में अपने समय की प्रचलित सभी परम्पराओं का समावेश नहीं हो सका। उसके द्वारा उनका प्रतिनिधित्व तो हुआ है, किन्तु उसके अन्तर्गत जन जीवन की स्वाभाविक एवं धार्मिक प्रेरणाओं की सहज अभिव्यक्ति हुई है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सन्त काव्य ने प्राचीन-परम्पराओं की सफल रूप रेखा ग्रहण कर उसमें जीवनगत पवित्रता के आधार पर विश्व धर्म की स्वाभाविक प्रेरणा का रंग भरा है। हिन्दी के धार्मिक साहित्य में संत-काव्य जन जीवन के धार्मिक-उन्मेष का एक नया प्रयोग है। यही कारण है कि सामान्य जीवन की स्वाभाविक भाव भूमि पर जो धर्म की प्रेरणा उत्पन्न हुई, उसका अभिव्यक्तीकरण जनभाषा द्वारा ही हुआ। यदि यह कहा जाय कि संत-काव्य ने जन

भाषा का आश्रय लेकर परवर्ती राम और कृष्ण की भक्ति के लिए काव्य का क्षेत्र प्रशस्त किया तो कोई अत्युक्ति न होगी। नाथ-सम्प्रदाय भी जनभाषा में अपने में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर चुका था, किन्तु उसकी भाषा में दो बातों की कमी थी; पहली यह कि वह भाषा केवल सिद्धान्त सम्मत थी, उसमें काव्यात्मकता का अभाव था; और दूसरी यह कि नाथ-सम्प्रदाय एक सीमित सम्प्रदाय होने के कारण अपनी भाषा को व्यापक नहीं बना सका था। संत सम्प्रदाय ने धर्म तत्त्व का सहज निरूपण करते हुए भाषा का ऐसा रूप भी प्रस्तुत किया, जो एक ओर तो व्यापक जन-जीवन को स्पर्श करता था और दूसरी ओर उसमें काव्यात्मकता का प्रयोग भी संभव हो सका था। इस भाँति निर्गुण सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करते हुए जन-जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों में सामान्य भाषा के माध्यम से संत-काव्य हिन्दी के भक्ति काव्य का एक महत्वपूर्ण अंश बना सका।

संत-काव्य का रूप निर्धारण करने में अनेक प्रेरणाओं और परिस्थितियों का योग है।

संत-काव्य की ऐतिहासिक-स्थिति विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है। इसके प्रवर्तक कबीर हैं, जिनका जन्म काल संवत् १४५६ है। संत-काव्य का उद्भव करने में अनेक प्रेरणाओं और परिस्थितियों का योग है, जो पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व भी वर्तमान थीं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर ने उन प्रेरणाओं और परिस्थितियों का समन्वय इस प्रकार किया कि वे एक नवीन-सम्प्रदाय में अंकुरित हो सकी और उन्होंने एक नये दृष्टिकोण का निर्धारण किया। जिन परिस्थितियों में संत-काव्य की रूप रेखा साकार हुई, उनमें हमारे देश के धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास की पृष्ठभूमि है। इनका विश्लेषण करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा कि किन क्षेत्रों से संत-काव्य अपने

निर्माण के उपकरण एकत्र कर सका और उन्हें किस रूप में नियोजित कर एक नये-सम्प्रदाय का रूप देने में समर्थ हुआ। इन पर क्रम से विचार करना आवश्यक है।

संत-काव्य की आधार-शिला अनुभव-ज्ञान की है। उसमें जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए यह स्पष्ट है कि उसमें प्राचीन परंपराओं की शास्त्र सम्मत मान्यता का आग्रह नहीं है। संत-काव्य के मूल में निगम, आगम, पुराण आदि का कोई महत्व नहीं है। कबीर ने स्वयं कहा है—

कबीर संसा दूर करि, पुस्तक देख बहाइ।

इस कथन की प्रामाणिकता इसलिए है कि कबीर के परवर्ती कवि तुलसीदास ने इस दृष्टिकोण की निन्दा करते हुए कहा था—

साखी, सबदी दोहरा, कहि कीन्हों उपखान,

भगति निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं वेद पुरान।

अंतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संत-काव्य में प्राचीन वैदिक-साहित्य की उपेक्षा की गयी है। यदि इस दृष्टिकोण से संत-काव्य पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसका दृष्टिकोण बौद्ध-धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है, जो शताब्दियों तक वैदिक-साहित्य से संघर्ष करता रहा। यदि बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास देखा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि संत-काव्य बौद्ध-साहित्य को परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। बौद्ध-धर्म से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान से मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध-धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रतिक्रिया में नाथ-सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ-सम्प्रदाय के प्रेरणा-मूलक तत्त्वों को ग्रहण कर संत-सम्प्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध-धर्म से लेकर नाथ-सम्प्रदाय तक जो-जो जीवन के तत्त्व मनोभावों के धरातल पर उभर

सके, उन सब का समाहार संत-सम्प्रदाय में हुआ। बौद्ध-धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ-सम्प्रदाय के योग-तक तथा वज्रयानके सिद्धों की संधा-भाषा की उल्टवाँसियों से लेकर नाथ-सम्प्रदाय की अवधूत भावना तक संत-काव्य में विचार सरणियाँ पोषित हो सकीं। बौद्ध-धर्म से प्रेरित इस विचारधारा के विकास में ही यह संभव हुआ कि संत-काव्य उन समस्त वैदिक-परम्परा के कर्मकाण्डों का विरोध कर सका, जो कालान्तर में वैष्णव-धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला आदि संत-सम्प्रदाय को ग्राह्य नहीं हो सके, जो कर्मकाण्ड के प्रतीक बने हुए थे। दूसरी ओर शून्य, कायातीर्थ, सहज-समाधि, योग जिसके अन्तर्गत इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना नाड़ियाँ, षट्-चक्र, सहस्रदल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन के स्वाभाविक और अन्तःकरण-जनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता संत-काव्य में हो सकी अतः यह स्पष्ट है कि संत-काव्य अपने मौलिक-विचारों की कंठि में बौद्ध-धर्म के अंतर्गत है तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म के परवर्ती सम्प्रदायों से होता हुआ प्रत्यक्ष रीति से नाथ-सम्प्रदाय से है।

बौद्ध-धर्म की विचारधारा से संत-सम्प्रदाय का सम्बन्ध निरूपित हो जाने पर यह भी देखना उचित है कि वैदिक-साहित्य की परम्परा में वैष्णव-धर्म का प्रभाव कितनी मात्रा अथवा किस रूप में संत-काव्य पर पड़ सका है। विक्रम की चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द का प्रभाव उत्तरी भारत में व्यापक रूप से पड़ा। भक्ति का प्रवाह जो दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित हुआ, उसने समस्त उत्तरी-भारत को धर्म के क्षेत्र में भक्ति के प्रति आकृष्ट किया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जनव्यापी प्रभाव दक्षिण के आलवार गायकों से ही ईसा की छठवीं शताब्दी में आरंभ हो चुका था। इनके गीतों ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। जनता के लिए भी वेदविहित याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति का रागात्मक

रूप अधिक आकर्षक था, किन्तु जब आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल ने पुनः याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठा की और शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर संसार को मिथ्या प्रमाणित करते हुए ब्रह्म और जीव के बीच अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तो इस वैष्णव भक्ति का खोत अवरुद्ध सा हो गया। ब्रह्म और जीव जब एक ही हैं तो भक्ति किसकी किसके प्रति होगी ? इसीलिए ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नाथ मुनि ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की। उनकी कृति 'प्रबन्धन' दक्षिण का भक्ति पुराण है। एक शताब्दी बाद रामानुजाचार्य ने अद्वैत के भीतर ही एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमें जीव ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप माना गया जो ब्रह्म से भिन्न तो नहीं है, किन्तु अपने पार्थक्य से वह भक्ति का अधिकारी है।

इस भाँति दर्शन के आधार पर शंकर ने जो भक्ति की महत्ता समाप्त कर दी थी वह नये ढंग से पुनः प्रतिष्ठित हुई। भक्ति को एक दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया, जिसकी उस समय बहुत बड़ी आवश्यकता थी। रामानुज के बाद मध्व और निम्बार्क ने भी भक्ति का पक्ष सबल बनाया और वह शंकर के ज्ञान तथा योग से अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ, यद्यपि यह ज्ञान और योग शैव धर्म का आश्रय लेकर नाथ-सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानों प्रचारित होता रहा। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति-सिद्धान्त को उत्तर भारत में अनेक प्रयोग के साथ प्रस्तुत किया। यह भक्ति-मार्ग ही उत्तर भारत में एक ऐसी ढाल बन सका जिस पर विदेशियों के धर्म-प्रचार की तलवार भी कुंठित हो गई।

दक्षिण से उत्तर की ओर आने में इस भक्ति-संप्रदाय को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। पहली बाधा तो शैव-धर्म के ज्ञान और योग की थी जो नाथ-संप्रदाय की-साधना में पोषित हो रही थी। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य का प्रभाव देशव्यापी था और

इसलिए वज्रयान की गुह्य साधनाओं की प्रतिक्रिया में जो नाथ-संप्रदाय नवीं शतब्दी में उठ खड़ा हुआ था उसने सहज ही शिव को आदि नाथ मान कर ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर लिया । इसलिए अपनी उत्तरी यात्रा में भक्ति की लहर जब महाराष्ट्र में पहुँची तो वहाँ शैव सम्प्रदाय का प्रभाव वर्तमान था । १२६० ई० में लिखित ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर स्वयं नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे । वे गुरु गोरखनाथ की परम्परा में हुए थे । यद्यपि ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता के आधार पर ही लिखी गई है तथापि उसमें तत्त्व-निरूपण की पद्धति अनेकानेक रूपों और प्रतीकों के आधार पर नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुरूप ही है । जब धृतराष्ट्र ने संजय से महाभारत के परिणाम के संबंध में पूछा कि विजय किसकी रहेगी, तो संजय ने निस्सङ्कोच होकर कहा—‘जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है; जहाँ चन्द्र है, वहाँ चाँदनी है; जहाँ देव शंकर हैं, वहीं देवी अम्बिका हैं; जहाँ सन्त हैं, वहीं विवेक है, जहाँ राजा है, वहाँ सेना है; जहाँ सात्विकता है, वहीं मैत्री है; जहाँ अग्नि है, वहीं जलाने की शक्ति है; जहाँ दया है, वहीं धर्म है; जहाँ धर्म है, वहीं सुख है; जहाँ सुख है, वहीं ब्रह्म है, जहाँ गुरु है, वहीं ज्ञान है.....आदि ।’

ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव (जन्म १२७० ई०) ने विठ्ठल की उपासना की जिसमें नाम स्मरण का अत्यधिक महत्व है । यह विठ्ठल सम्प्रदाय सन् १२६० के लगभग पंढरपुर में प्रचारित हुआ, इसके प्रचारक कन्नड़ संत पुण्डलीक कहें जाते हैं । विठ्ठल संप्रदाय वैष्णव संप्रदाय और शैव संप्रदाय का मिश्रित रूप है । इस प्रकार विठ्ठल संप्रदाय के संत विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं मानते । विठ्ठल की उपासना विष्णु के अवतार वासुदेव कृष्ण की उपासना से ही आरम्भ हुई पर आगे चलकर विठ्ठल और पाण्डुरंग में कोई अन्तर नहीं रह गया । पाण्डुरंग वस्तुतः श्वेत अङ्ग

वाले शिव ही हैं। इस भाँति विष्णु ही शिव हैं और शिव ही विष्णु हैं। पंढरपुर में विठ्ठल की मूर्ति शिवलिङ्ग को शीश पर चढ़ाए हुए विष्णु की ही है। विठ्ठल इस भाँति एक सर्वव्यापी ब्रह्म का प्रतीक बन कर समस्त महाराष्ट्र में आराध्य मान लिए गए। ऐसा ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी के शैव धर्म से ग्यारहवीं शताब्दी के वैष्णव धर्म का समझौता विठ्ठल संप्रदाय के रूप में हुआ जिसके सबसे बड़े संत नामदेव हुए। इस भाँति महाराष्ट्र में आते दक्षिण की भक्ति में कुछ संशोधन हुआ और वह एक व्यापक रूप लेकर ज्ञान के आश्रय से आत्म-चिन्तन के रूप में परिवर्तित हुई। और यहीं इस भक्त में रहस्यवाद की अनुभूति उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर और नामदेव से साथ-साथ सारे उत्तर भारत का पर्यटन किया और अपने व्यापक धर्म का प्रचार किया। इस विठ्ठल संप्रदाय के अंतर्गत अनेकानेक संत हुए जिनमें गोरा कुम्हार, सम्भवत माली नरहरि सुनार, चोखा भंगी, जनाबाई दासी, सेना नाई, कन्हो वेश्यापुत्री प्रमुख हैं। भक्तों के लिए ज्ञानेश्वरी ने 'संत' शब्द का प्रयोग कर ही दिया था।

ज्ञानदेव ह्यणें तुम्हीं संत बोलागावेति आम्हीं।

हैं पडविलों जी स्वामी निवृत्तिदेवी।

(ज्ञानेश्वरी १२)

आत्मज्ञानें चोंखडी। संत हे माझे रूपडी।

(ज्ञानेश्वरी १८, १३५६)

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि महाराष्ट्र में दक्षिण की भक्ति को लेकर तेरहवीं शताब्दी के आसपास ऐसी विचार-धारा प्रवाहित हुई, जिसमें विठ्ठल को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उसके प्रेम की पवित्र धारा में जाति और वर्ग का सारा द्वेष बह गया और नाम का संस्कार हृदय में स्थिर हो गया। संभव है कि यह परिस्थिति महानुभाव संप्रदाय के प्रच्छन्न प्रभाव के कारण

हुई हो, जिसकी स्थापना ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी और जिसमें जाति बंधन की शिथिलता के साथ कृष्ण चक्रधर की उपासना प्रबल हो गई थी और इनमें नाथ संप्रदाय की जातिगत उपेक्षा भी सम्मिलित हो गई हो। इस प्रकार भक्ति का यह ऐसा उन्मेष था जिसमें दर्जी, कुम्हार, माली, सुनार, भंगी, दासी, नाई और वेश्यापुत्री समान रूप से नाथ संप्रदाय के प्रभावों को लिए हुए वैष्णव भक्ति में लीन हुए। उन्होंने जहाँ अनाहत नाद के अलौकिक माधुर्य में परमात्मा की अनुभूति प्राप्त का, वहाँ प्रेम के दिव्य आलोक में उन्होंने अपनी वास्तविक सत्ता पहिचानी और उसमें उन्होंने परमात्मा की विभूति देखी। महाराष्ट्र में इस भक्ति का संस्कार दो प्रमुख बातों में हुआ। पहली तो यह कि कर्मकाण्ड की अपेक्षा हृदय की पवित्रता और शुद्धता को महत्त्व दिया गया और दूसरी यह कि प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपने सीमित संस्कारों से युक्त होकर जीवयुक्ति के उस धरातल पर पहुँचा जहाँ उसकी 'संत' संज्ञा हो जाती है।

एक बात और भी है। सन् १२६४ में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के राजा रामदेव राव पर आक्रमण किया। इससे पूर्व दक्षिण में मुसलमानों का प्रभाव नहीं के बराबर था। अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि के राजा रामदेव राव से प्रचुर धनराशि प्राप्त की। बारह वर्ष बाद सन् १३०६ में उसने अपने सेनापति मलिक काफूर के सेनापतित्व में तीस हज़ार अश्वारोहियों की जो सेना भेजी उससे देवगिरि राज्य की अपार क्षति हुई। रामदेव राव की मृत्यु (१३०६ में) होने पर सन् १३१८ में देवगिरि राज्य समाप्त हो गया और दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया गया। नामदेव की मृत्यु सन् १३५० में हुई। इस भाँति नामदेव ने महाराष्ट्र में ५६ वर्ष तक मुसलमानों के आतङ्क का अनुभव किया। विधर्मी विदेशियों के प्रभाव की यह प्रतिक्रिया भी हो सकती है कि दिव्य संप्रदाय

के अन्तर्गत होते हुए भी नामदेव ने मूर्ति पूजा पर बल न देकर नाम स्मरण पर ही अधिक बल दिया । वैष्णव भक्ति संप्रदाय से विष्णु का अवतार कृष्ण चक्रधर की मूर्ति और शैव संप्रदाय में शिवलिंग की उपासना मान्य थी । इसी प्रकार विठ्ठल सम्प्रदाय में विठ्ठल की विष्णु और शिव की सम्मिलित एक मूर्ति की उपासना पद्धति में भी मूर्ति का स्थान विशेष रूप से होना चाहिए था, किन्तु नामदेव के अभंगों में जीवन की पवित्रता और प्रेम से विठ्ठल की इस आन्तरिक उपासना के तीन उपकरण माने जा सकते हैं—भक्ति का प्रेम तत्त्व, नाथ-सम्प्रदाय का चिन्तन और मुसल-मानी प्रभाव से मूर्ति उपासना वर्जित वातावरण । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में संत सम्प्रदाय का जो स्थान वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ था, उसना पूर्वाञ्चल महाराष्ट्र में विठ्ठल सम्प्रदाय के संतों द्वारा प्रस्तुत हो चुका था, जिनमें ज्ञानेश्वर और नामदेव प्रमुख थे । ज्ञानेश्वर और नामदेव ने उत्तर भारत की यात्रा भी की थी । इसलिए यह भी संभव है कि उन्होंने अपनी यात्रा में पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रचारित होने वाले संत सम्प्रदाय की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी ।

इस दृष्टि से यदि संत सम्प्रदाय के विकास का इतिहास देखा जावे तो यह कहा जा सकता है कि संत सम्प्रदाय का आरंभ तेरहवीं शताब्दी में ही हो चुका था । इस पूर्व पक्ष में वह महाराष्ट्र में विठ्ठल सम्प्रदाय के रूप में रहा और पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रचारित होनेवाले उत्तर पक्ष में वह उत्तर भारत में निगुण सम्प्रदाय का रूप बना । इस भाँति संत सम्प्रदाय के दो पक्ष दक्षिण और उत्तर में बने जो अपनी विचार धारा में भक्ति के कर्मकांड की उपेक्षा कर मानसिक पवित्र पर ही अधिक बल देते रहे । ये दोनों पक्ष एक दूसरे का समर्थन भी करते रहे; जहाँ विठ्ठल सम्प्रदाय की जनाबाई ने कबीर की सिद्धि का उल्लेख किया है, वहाँ निगुण सम्प्रदाय कबीर ने

ज्ञानदेव और नामदेव का उल्लेख ही नहीं बरन् विठ्ठल को भी अपने ईश्वर के रूप में माना है ।^१

उत्तर भारत में निगुण संप्रदाय का जो रूप प्रचारित हुआ उसमें विठ्ठल संप्रदाय से दो विशेषताएँ अधिक थीं ।

पहली विशेषता तो यह थी कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति का प्रसार उत्तर भारत में पहुँचने के साथ ही उसे रामानन्द का आश्रय प्राप्त हुआ, जिन्होंने नवीन ढंग से वैष्णव धर्म को उत्तर में पुनर्जीवित सा कर दिया । दक्षिण से उठने वाली भक्ति की जो धारा उत्तर तक आते-आते अनेक संशोधनों के साथ अपनी शक्ति बहुत कुछ खो चुकी थी, वह फिर अपने नये रूप में व्यवस्थित हो गई और दूसरी विशेषता यह थी कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक एक ओर तो मुसलमानी सत्ता भारत में अपना धार्मिक प्रभाव यथेष्ट मात्रा में बढ़ा चुकी थी, हिन्दू और मुसलमानों के वर्ग अपनी धार्मिक मान्यताओं में खड़े हो गए थे और दूसरी ओर बारहवीं शताब्दी से भारत में आने वाला सूफी संप्रदाय भी अपने विभिन्न वर्गों में व्यवस्थित हो चला था । परिणामस्वरूप एक ओर तो मुसलमानों का 'भूति' के विरुद्ध 'जिहाद' था और दूसरी ओर सूफियों की प्रेममयी सौम्य मनोवृत्ति थी जो भारत में आकर यहाँ के धार्मिक वातावरण से प्रभावित भी हो रही थी । इस भाँति रामानन्द की वैष्णवी भक्ति के नवीन प्रयोग और मुसलमानों की हिंसा एवं प्रेममयी दोनों प्रवृत्तियाँ इस संत संप्रदाय के प्रतिष्ठित होने की भूमिकाएँ प्रस्तुत कर रही थीं ।

रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में रामानन्द ने जिस भक्ति का प्रचार किया था उसमें बहुत कुछ अंश विठ्ठल संप्रदाय का भी था । जाति-बन्धन की शिथिलता, नाम की महत्ता, और भक्ति में प्रेम की प्रधानता के बीज उन्हें विठ्ठल-संप्रदाय से ही प्राप्त हुए ज्ञात होते

१ मिस्टिसिज़्म इन महाराष्ट्र (प्रो० आर० डी० रानाडे) पृष्ठ २०६, २०७.

हैं। उन्होंने विष्णु नाम के स्थान पर कृष्ण, चक्रधर या विठ्ठल की अपेक्षा 'राम' को ही अधिक उपयुक्त समझा और उसकी सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अद्वैत का आश्रय भी लिया। इसीलिए निगुण संप्रदाय की नयी प्रयोगशाला में कबीर ने 'राम' को अन्य नामों के बीच सर्वाधिक महत्व प्रदान किया। यों राम की उपासना विष्णु के अवतार के रूप में रामानन्द के पहले भी थी, पर रामानन्द ने राम के रूप में ही ब्रह्म की उपासना करने की भावना को प्रश्रय दिया। रामानन्द आचार्य थे। अभी तक वैष्णव धर्म के किसी आचार्य ने द्विजातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों को भक्ति की दीक्षा नहीं दी थी। रामानन्द ने आचार्य होते हुए निम्न जाति के व्यक्तियों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। उनके बारह शिष्यों में कबीर जुलाहे थे, सेना नाई थे और रैदास चमार थे। रामानन्द की यह सार्वजनिक भक्ति इस्लाम से संवर्ष लेने के लिए पर्याप्त थी और उनकी रामभक्ति के निगुण और सगुण दोनों पक्षों ने सामान्य जनता की धार्मिक आस्था को सुदृढ़ कर दिया।

विदेशियों के आगमन से धार्मिक वातावरण में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। मुसलमानी सत्ता की असहिष्णुता ने भक्ति मार्ग के स्वाभाविक विकास का मार्ग अवश्य अवरुद्ध किया, किन्तु सूफ़ी मत ने उसमें एक नया पार्श्व जोड़ा। यों तो सूफ़ी मत अपनी विकास-कालीन अवस्था में वेदान्त का ऋणी है फिर चाहे उसमें कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का सम्मिश्रण भले ही किया गया, किन्तु यह प्रसंग यहाँ विचारणीय नहीं है। प्रस्तुत प्रश्न तो यही है कि सूफ़ीमत ने ऐसी कौन सी विशेषता भक्ति मार्ग में जोड़ दी जो पंढरपुर के विठ्ठल सम्प्रदाय की भक्ति में नहीं थी।

ईसा की बारहवीं शताब्दी में इस देश में सूफ़ीमत का प्रवेश हुआ। यह मत चार संप्रदायों के रूप में आया जिन्होंने समय-समय पर देश में अपना प्रचार किया !

१—चिश्ती संप्रदाय, जो बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचारित हुआ ।

२—सुहरावर्दी संप्रदाय, जो तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संगठित हुआ ।

३—क़ादरी संप्रदाय, जो पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पोषित हुआ ।

४—नक़्शबंदी संप्रदाय, जो सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित हुआ ।

ये चारों संप्रदाय अपने मूल सिद्धान्तों में समान थे । धार्मिक और सामाजिक पक्ष में ये सभी संप्रदाय अत्यंत उदार थे । अनेक देववाद के विपरीत ईश्वर की एकता (Unity of God) और सर्वोपरिता (Transcendental Godhood) सर्वमान्य है और केवल आचारात्मक दृष्टिकोण से इन संप्रदायों में नाम-मात्र का भेद है । कहीं ईश्वर के गुण जोर से कहे जाते हैं, कहीं मौन रूप से स्मरण किये जाते हैं, कहीं गाकर कहे जाते हैं, इत्यादि । चिश्ती और क़ादरी सम्प्रदाय में संगीत का जो महत्व है वह सुहरावर्दी और नक़्शबंदी संप्रदाय में नहीं है । पिछले संप्रदायों में नृत्य और संगीत धार्मिक भावना की दृष्टि से अनुचित समझे गए हैं, अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सभी संप्रदायों में समान रूप से मुख्य है । इस्लाम सूफ़ी धर्म में एक संप्रदाय के संत सरलता से किसी दूसरे संप्रदाय के सदस्य बन सकते थे ।^२

सूफ़ी मत के सिद्धान्त मूलतः वही थे जो शंकराचार्य के अद्वैतवाद के थे । ब्रह्म (हक़) की व्यापकता सर्वत्र है और जीव (बन्दा) उसका अंश (ज़ात) होकर उसी में शाश्वत जीवन (वफ़ा) के लिए अपना इंद्रियजनित अस्तित्व (नफ़्स) को नष्ट (फ़ना)

करता है। इसकी साधना चार स्थितियों (शरीयत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारिफ़त) में होती है। मारिफ़त में अनलहक़ (मैं हक़-ब्रह्म हूँ) प्रत्यक्ष हो जाता है। यह साधन प्रेम (इश्क़) और प्रेम की मादकता (इश्क़ के खुमार) द्वारा सम्भव हो सकती है जिसको नष्ट करने के लिए शैतान (माया) सदैव प्रयत्नशील है। शैतान का प्रभाव दूर करने के लिए सम्पूर्ण शुभ आचरणों से पूर्ण और सम्पूर्ण दुराचरणों से मुक्त (अबू बक्र हरीरी के अनुसार) अथवा पवित्र जीवन, त्याग और शुभ गुण का आश्रय (शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के अनुसार) आवश्यक है। गज़ाली ने कहा है कि ज्ञान और आचरण के मिश्रण का नाम सूफ़ी धर्म है। शरीअत (कुरानोक्त) के भक्ति मार्ग और सूफ़ी मार्ग में यही अंतर है कि शरीअत में ज्ञान के बाद आचरण (कर्म) आता है, सूफ़ी मार्ग के अनुसार आचरण के बाद ज्ञान।^१

यदि भारतीय दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही सूफ़ीमत में इश्क़ की साधना है, किन्तु उसमें कर्मकाण्ड का स्थान नहीं है। केवल जप (ज़िक्र) और ईश्वर की तन्मयता में ईश्वरानुभूति (तसव्वुफ़) उसका लक्ष्य है। यद्यपि रहस्यवाद के दर्शन हमें विट्ठल संप्रदाय के संत नामदेव के काव्य में भी होते हैं तथापि उसमें उस 'खुमार' पर बल नहीं दिया गया है जो सूफ़ीमत की विशेषता है। उसमें तो भक्ति के बल पर ब्रह्मानुभूति का आनन्द और उल्लास ही है।

उत्तर के संत संप्रदाय में जहाँ रामानन्द के प्रभाव से अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की संधि में रहस्यवाद की पुष्टि हुई है और उसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म से अभिन्नता स्थापित हुई है, वहाँ पवित्र आचरण-मयी मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रेरणा उत्पन्न हुई है और उस प्रेम में मादकता की स्पष्ट व्यंजना हुई है। इसके लिए सूफ़ीमत के रूपकों

१. दर्शन दिग्दर्शन (राहु ल सांकृत्यायन) पृष्ठ १०२

से मिलते-जुलते रूपक भी ग्रहण किए गए हैं। संत कबीर ने एक स्थान पर लिखा है।

हरि रस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।

मैमन्ता धूमत फिरै, नाहीं तन की सार॥^१

संत संप्रदाय में आचरण की पवित्रता तो विशिष्टाद्वैत की भक्ति, नाथ-संप्रदाय की सहज साधना और विठ्ठल संप्रदाय के प्रति-बिम्ब प्रभाव से भी आ सकती थी, किन्तु भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता सूफीमत से ही आई हुई शक्त होती है। इसी प्रकार कबीर ने माया का जैसा मानवीकरण किया है, वह सूफीमत के शैतान से बहुत कुछ साम्य रखता है।

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत में संत-सम्प्रदाय की भूमितैयार करने के लिए निम्नलिखित धार्मिक प्रभाव देखे जा सकते हैं—

१—बौद्ध धर्म से विकसित हुई, कर्मकाण्डों की निषेध की प्रवृत्ति लिए वज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ-संप्रदाय की आत्मानुभव और योग की परम्परा।

२—विठ्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति।

३—रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति की साधना।

४—सूफीमत की रूपकों से सम्पन्न रहस्यवादमयी मादकता और माया के मानवीकरण की एक नई प्रवृत्ति।

इन चारों प्रभाव के समन्वय में ही कबीर की स्वाभाविक सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि ने संत सम्प्रदाय की रूप-रेखा निर्मित की। इसमें विठ्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति को अग्रसर करते हुए, धर्म की ऐसी भावना-भूमि तैयार हुई, जिसमें सामान्य जनता अपने आराध्य को पहिचानने में समर्थ हुई।

१. कबीर ग्रन्थावली (पं० श्यामसुन्दर दास)

सन्त साहित्य की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक

मेरे दृष्टिकोण से संत साहित्य के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों का भी विशेष हाथ रहा। उत्तर भारत में संत सम्प्रदाय का आविर्भाव काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है। उस समय उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १३३८ में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नीवें हिला दी और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंथ के जल की भाँति मलीन हो गई थी। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षा काल बादलों की भाँति उठे घुमड़े, गरजे, और पानी-पानी होकर भूमि पर गिरे; उनके कुछ काल तक घुमड़ने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ अस्त व्यस्त हुईं और उनके रूपों में परिवर्तन हुए। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में तुगलक, सैयद और लोदी राजवंशों ने उत्तरी भारत पर शासन किया। मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१) से लेकर इब्राहीम लोदी (१५१८-१५२६) तक सोलह शासक दिल्ली के तख्त पर बैठे और उन्होंने अपने राज्यकाल में शासन-व्यवस्था के बदले अधिकतर आक्रमण और युद्ध ही किए। ये युद्ध निरन्तर होते रहे और राज्य लिप्सा के साथ-साथ धर्म का

प्रचार भी इन युद्धों का कारण बढ़ता रहा । यही कारण था कि इन युद्धों का स्वाभाविक परिणाम जनता में घोर असंतोष का कारण बना । इसी असंतोष ने समस्त जनता का ध्यान राजनीति से हटाकर धर्म की ओर ओर धर्म की मान्यताओं पर आधारित समाज की ओर आकृष्ट किया । । इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी । जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड़ लेता, वही उसे भाग्यकाश की ऊँचाई तक खींच ले जाता है । राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही । कूटनीति, हिंसा, छल, त्रिशूल की भाँति फेंके जाते थे और देश के वक्षस्थल में चुभ कर उसे रक्त से नहला देते थे । शमशान में घूमते हुए प्रेतों की भाँति दिल्ली के शासक शवों पर बैठ कर आनन्द से खिलखिला उठते थे । जब शासकों की सेवा में रहने वाले हिजड़े और गुलाम भी सिंहासन पर अधिकार कर प्रजा के भाग्य का निर्णय करते थे तो उनके प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा और स्वामिभक्ति हो सकती थी । इस भाँति शासक वर्ग जनता को सहानुभूति खो चुका था जनता भी, 'कोउ नृप होइ' की मनोवृत्ति से राजनीति से उदासीन थी ; उदासीन ही नहीं, आक्रोशमयी भी हो उठी थी, क्योंकि म्लेच्छ और शूद्र उसके आचार विचार के निर्णायक थे और आज यदि 'क' शासक है, तो कल 'ख' होगा और दोनों ही उसके धर्म और प्राण के ग्राहक थे । किसके प्रति सहानुभूति और किसके प्रति घृणा, इसके निर्णय की बात ही नहीं थी । इसलिए राज्यों के उत्थान और पतन होते रहे और जनता प्रेक्षक की भाँति सारे दृश्य बिना किसी 'आह' और 'वाह' के साथ देखती रही । दो शताब्दियों बाद भी राजनीति की विगर्हणा करते हुए तुलसीदास ने दोहावली में लिखा था :—

गोंड गंवार नृप यवन, महा महि पाल,

साम न दाम न भेद कहुँ केवल दंड कराल ।

जब दो शताब्दियों बाद अकबर के अपेक्षाकृत शान्ति पूर्ण

शासन काल में यह स्थिति थी तो आलोच्य-काल की राजनीतिक स्थिति की अवस्था और आतंक के विषय में सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कबीर ने अपने एक पद में आध्यात्मिक रूपक रखते हुए भी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की ओर संकेत किया है।

एकु कोटु पंच सिकदारा पंच भागी हाला ।

जिमी नाही मैं किसी की बोई फैंसा देनु दुखाला ।

हरि के लोगा मो कउ नीति डसै पटवारी ।

ऊपरि भुजा करि मैं गुर पहि पुकारिआ

तिनि हउ लीआ उबारी ॥

नउ डाडी दस मुंसफ धावहिं रईअति वसन न देही ।

डोरी पूरी मांपहि नाहीं बहु बिस टाला लेही ॥

राजनीति की ऐसी हिंसा से पूर्ण प्रवृत्ति के कारण देश की समस्त प्रतिभा जीवन की व्यवस्था की ओर अग्रसर हुई और धर्म एवं समाज के संगठन की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। एक बात और थी। जब मुसलमान शासकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग धर्म के प्रचार करने में किया तो जनता में इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। मुसलमानी राज्य के पूर्व भी राजनीति के साथ धर्म चलता था, चाहे वह धर्म वैदिक हो या बौद्ध। किन्तु यह राजनीति सहिष्णु थी। वैदिक धर्म में विश्वास रखने वाला नरेश बौद्ध धर्म के भी जीवित रहने की सुविधा दे देता था। किन्तु अधिकांश मुसलमान शासक अपने धर्म इस्लाम का प्रचार ही नहीं करते थे, भारतीय धर्म के प्रतीक मन्दिरों और बिहारों को भी ध्वस्त करते थे। उन अक्रमणकारियों को दो लाभ थे। एक तो मन्दिर में संचित अपार सम्पत्ति उनके हाथ आती थी और दूसरे मूर्तियों को तोड़ने और काफिरों के मारने से उन्हें अपने धर्म में गाजी और मुजाहिद का सम्मान प्राप्त होता था। तैमूर ने सन् १३६८ में भारत पर आक्रमण

किया था, उसका उद्देश्य भी यही था। उसके संस्मरण में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

तैमूर की शक्ति और उसकी विजय-यात्रा की सफलता बाद के सभी शासकों के लिए आदर्श बन गई और उनका शासन तैमूर के पद-चिह्नों पर ही होने लगा।

मुसलमानों के इस धर्म प्रचार ने प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय धर्म को भी व्यवस्थित होने की प्रेरणा प्रदान की। दक्षिण से धर्म की जो लहर उठी थी, वह आचार्यों के हाथ से निकल कर जनता के कवियों के हाथ में आ गयी और धर्म और समाज की व्यवस्था के लिए जन-भाषा में जागरण के गीत गाने लगे। दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत की परिस्थितियाँ अधिक भयावह थीं, क्योंकि मध्य देश में मुसलमानी शासकों का अधिक प्रभाव था। इसलिए उत्तरी भारत के संगठन की जो रूपरेखा बनी वह दक्षिण भारत की धर्म व्यवस्था से कुछ भिन्न होने लगी। मध्य देश में इस समय मूर्तिपूजा के लिये सुविधा नहीं थी; यह मुसलमान नरेशों की असहिष्णु नीति से स्पष्ट है। कुछ साहित्यकारों का मत है कि यदि इस देश में मुसलमानों का आगमन न हुआ होता तो भी हमारा साहित्य नव्वे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है, क्योंकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ़ थीं कि उन्हीं के प्रभाव से साहित्य का विकास होता चला गया। इस कथन में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। मैंने 'साहित्य शास्त्र' में इस सम्बन्ध में लिखा था :—

जब कि संत-सम्प्रदाय के पूर्व नाथ का मत शिव और शक्ति के व्यक्तित्व से अनुप्राणित था और बाद में वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से स्फूर्तिमय हो उठा था तब मध्य स्थित निर्गुण सम्प्रदाय में ब्रह्म को साकार व्यक्तित्व से पूर्ण क्यों नहीं माना गया ? न उसका विश्वास मूर्ति में रह सका, न अवतारों में। अन्य छोटे-छोटे कारणों के साथ एक विशेष कारण यह भी है कि संत सम्प्रदाय

का आविर्भाव दिल्ली के लोदी वंश के राज्यकाल में हुआ। लोदी वंश के शासक विशेष रूप से असहिष्णु थे तथा मन्दिर और मूर्तियों को तोड़ने में उनकी राजनीति सक्रिय थी। पठानों के आक्रोश से सुरक्षित रखने के लिए ही संत सम्प्रदाय ने अपने धार्मिक रूप को स्थूल होने से बचाया। अपने आराध्य को केवलान्त, सारंगपानि, रघुनाथ, गोपाल आदि नामों से पुकारते हुए भी उनके अवतारों की तथा उनकी मूर्तियों की उपेक्षा की। विशेष रूप से कबीर ने मुसलमानी धर्म के निराकार और निर्गुण ईश्वरवाद के समक्ष ही अपने राम की वल्पना की। इसीलिये उन्होंने राम और रहीम, केशव और करीम को पर्यायवाची बना दिया और तत्कालीन विद्वेष-भावनाओं को समाप्त करने के लिए ही ऐसे विश्व धर्म की स्थापना की जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक साथ सम्मिलित हो सकें। तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों के हृदय में तथा मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं के हृदय में जो भयानक विद्वेष था, उसी के निराकरण के लिए कबीर ने अपने साहित्यिक अस्त्र का प्रयोग किया। इस भाँति कबीर की कविता परम्परा से उतनी अनुशासित नहीं है जितनी अधिक तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से कबीर ने परम्पराओं का घोर विरोध किया है। इसलिए यह कहना कि कबीर की कविता परम्परा की एक कड़ी है, सत्य की अवहेलना ही होगी।

इस भाँति यह स्पष्ट है कि संत सम्प्रदाय के विकास में राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है।

सामाजिक

समाज का सम्बन्ध एक ओर तो राजनीति से है, दूसरी ओर धर्म से। राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित होती हैं तो समाज के आचरण और व्यवहार में भी उच्छृङ्खलता आ जाती है। प्राण और धन-हानि की आशंका सिर के ऊपर झूलती हुई तलवार की

भाँति जिस समाज के ऊपर हो, उसकी आचार प्रवणता कैसे सुरक्षित रह सकती है। जनता देखती थी कि अधिकांश विदेशी आक्रमणकारी अपार धन सम्पत्ति लूट कर भोग विलास में लीन हो जाते थे, और अपने चारों ओर विलासिता का वातावरण छोड़ जाते थे, जिसमें समाज पतनोन्मुख हो सकता था, इसीलिए उसे सचेत करने में कबीर ने अनेकानेक साखियों की रचना की :—

कबीर कंचन के कुंडल बने ऊपरि लाल जड़ाउ ।
 दीसहि दाधे कान जिउ जिन मनि नाही नाउ ॥
 कबीर संतन की भुँगिआ भली भठि कुसती गाउ ।
 आगि लगउ तितु धउलहा जिह नाही हरि को नाउ ॥
 कबीर तासिउ प्रीति करि, जाको ठाकुर राम ।
 पंडित राचे भूपति, आवहि कवने काम ॥
 कबीर ऊजल पहिरहिं कापरे पान सोपारी खाहिं ।
 एक स हरि के नाम बिनु बांधे जम पुर जाँहि ॥
 कबीर गरबु न कीजीअै चाम लपेटे हाड ।
 हैवर ऊपर छत्र तर ते फुनि धरनी गाड ॥
 कोई लरिका बेचई लरिकी बेचै कोइ ।
 साक्षा करे कबीर सिक हरि सँगि बनिज कोइ ॥

उपर्युक्त दोहों में तत्कालीन वैभव की आसक्ति के प्रति व्यंग्य है। कनक और कामिनी के विरोध में संत कवियों ने अपनी वाणी में जो प्रखरता उत्पन्न की है, वह साधना पक्ष के यम और नियम के समर्थन में भले ही हो, साथ ही साथ वह तत्कालीन समाज की ओर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डालती है :—

रामु बिसारिओ है अभिमान

कनिक कामिनी महा सुन्दरी पखि पखि सचुभानि ॥

आलोच्य काल में वर्ग भेद का विष भी समाज के अंग अंग में व्याप्त हो रहा था। इसका स्पष्ट प्रमाण कबीर की रचनाओं में

मिलता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि समाज का सम्बन्ध धर्म से भी है और धर्म ने समाज की व्यवस्था में बड़ा कार्य किया है। धर्म के क्षेत्र में जाति की संकीर्णता हटाने का कार्य बौद्ध धर्म ने किया था। महायान में तो सभी जाति और वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे। बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया में वैदिक धर्म ने समाज की व्यवस्था में जाति बन्धन और अधिक दृढ़ कर दिया। कुमारिल और शंकर ने जब यज्ञ की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की तो ब्राह्मणों का महत्व और भी बढ़ गया। किन्तु वैदिक धर्म तब तक लोक प्रिय नहीं हो सका जब तक कि जाति-बन्धन शिथिल नहीं किया गया। रामानन्द और कबीर ने जाति बन्धन का कुप्रभाव देख लिया था। उन्होंने यह भी अनुभव किया था कि विदेशियों के धर्म प्रचार का मुकाबिला करने के लिए हिन्दू धर्म का पुनर्संगठन आवश्यक है। जाति भेद यदि शिथिल न किया जायगा तो धर्म की रक्षा संभव न हो सकेगी। इसलिए जाति-बन्धन की परम्परा तोड़ने के लिए उन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। “हरि को भजे सो हरि का होई” के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर उन्होंने धर्म को सशक्त और सुसंगठित किया। जाति भेद की संकीर्णता किस सीमा तक पहुँच गई थी, इसका स्पष्ट संकेत कबीर की रचनाओं में मिलता है। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित पद देखिए :—

गरभ वास महि कुलु नहीं जाती ।
 ब्रह्म विंदु ते सभु उतपाती ॥
 कहु रे पंडित बाभन कब के होए ।
 बाभन कहि कहि जनम मत खोए ॥
 जो तूं ब्राह्मणु ब्रह्मणी जाइआ ।
 तउ आन बाट काहे नहीं आइआ ॥
 तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद ।
 हम कत लोहू तुम कत दूध ॥

कहु कबीर जे ब्रह्म बीचारे ।

सो ब्राह्मणु कहीअतु है हमारे ॥

इस भाँति जाति के नाम पर समाज खड़-खंड हो गया था और इस समाज को व्यवस्थित करने की आवश्यकता थी । इस सामाजिक दुर्व्यवस्था का एक दूसरा भी पक्ष था । समाज के एक अंग में मुसलमानों की भी प्रतिष्ठा हो गई थी । शासक वर्ग से सम्बन्ध रखने के कारण मुसलमान अपने को श्रेष्ठ समझते थे और हिन्दुओं को द्विकारत की नजर से देखते थे । दूसरी ओर मुसलमानों को विधर्मी होने के कारण तथा अत्याचार के वृश्चक और सर्प का विष रखने के कारण हिन्दू घृणा की दृष्टि से देखते थे । दोनों वर्ग अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी अलग-अलग थे । दोनों के आचार भिन्न-भिन्न थे, अतः दोनों में समझौता होना कठिन था । कबीर ने जिस भाँति ब्राह्मणों और शूद्रों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया, उसी भाँति हिन्दू और मुसलमानों के बीच द्वेष की दीवार तोड़ कर उन्हें एक ही परिवार का व्यक्ति घोषित किया । ऐसा करने में कहीं-कहीं उन्हें तीव्र व्यंग्य और व्याजोक्ति का आश्रय भी लेना पड़ा, किन्तु उन्होंने पूरे विश्वास के साथ सत्य का प्रतिपादन किया ।

उनके निम्नलिखित पद से स्पष्ट होता है कि उस समय समाज में आचार की प्रधानता पर हिन्दू मुसलमानों में कितना भेद था :—

अलहु एकु मसीति वसतु है अवरु खुलखु किसु केरा ।

हिन्दू भूरति नाम निवासी दुइ महि तनु न हेरा ॥

अलह राम जीवउ मेरे नाई ।

तू करि मिहरामति साई ॥

दखन देस हरी का वासा पड़िमि अलह मुकामा ।

दिल मह खोजि दिलै दिलि खोजहु एही ठउर मुकामा ॥

इसी प्रकार अनेक सम्प्रदायों में लोग बटे हुए थे जिनमें पारस्परिक वैमनस्य था—

पंडित जन माते पढ़ि पुराण ।

जोगी माते जोग ध्यान ॥

सनियासी माते अहंमेव ।

सवी माते तप कै भेव ॥

सभ मदमाते कोऊ न जाग ।

संग ही चोर घरु मुसन लाग ॥

यह भेद धर्म को आधार मानकर भी किया गया था :—

जोगी जती तपी सनियासी बहु तीरथ भ्रमना ।

लुंजित मुंजित ओनि जटाधर अंति तऊ मरना ॥

इसी भाँति पन्द्रहवीं शताब्दी में सामाजिक स्थिति अंतः अव्यवस्थित थी । राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों की विषमता, अव्यवस्था और परम्परा ने समाज को जर्जर कर दिया था । जब तक समाज व्यवस्थित नहीं होता तब तक किसी भी विचार या सिद्धान्त का प्रसार संभव नहीं है । यही कारण है कि कबीर अनुभूति सम्पन्न संत और कवि होते हुए भी समाज की अनिश्चित परिस्थितियों के प्रति उदासीन नहीं रह सके और वे भक्ति आन्दोलन के प्रमुख प्रवर्तकों में होते हुए भी समाज सुधार के अग्रणी बने ।

साहित्य-परंपरा

सिद्ध साहित्य; नाथ साहित्य;
भक्ति साहित्य; सूफी सम्प्रदाय ।

सिद्ध साहित्य—साहित्य किसी सम्प्रदाय विशेष की निधि नहीं है । उसमें जीवन के ऐसे सत्य का प्रतिपादन होता है जो शाश्वत है, चिरंतन है । इसीलिए किसी वृत्त पर लिखे हुए अनेक पुष्पों की भाँति विभिन्न युगों के साहित्य में कुछ व्यापक अनुभूतियाँ होती हैं जो समान रूप से प्रत्येक युग के साहित्य में विद्यमान रहती हैं । साहित्य की किसी भी धारा का मूल पूर्ववर्ती साहित्य में खोजा जा सकता है । किन्तु यह होते हुए भी युग के प्रभाव के कारण साहित्य में कुछ विशेष रंजना होती ही है जो समकालीन परिस्थितियों से अपना रूप ग्रहण करती है ।

संत साहित्य की मूल प्रवृत्ति खोजते हुए हमारी दृष्टि सिद्धों और नाथों के साहित्य तक पहुँचती है । वज्रयानी सिद्धों ने जीवन के प्रति सहज अनुभूति को प्रधानता दी । उन्होंने अन्ध-विश्वासों की परंपरा जड़ मूल से उखाड़ने की चेष्टा की । तिल्लोपाद ने लिखा :—

१—सहजे चित्त विसोहहु चंग

ब्रह्म जम्महि सिद्धिः मोक्ख भंग :

सहज से चित्त विशुद्ध करो । इस जन्म में सिद्धि और मोक्ष प्राप्त करोगे ।

२—तित्थ तपोवग में करहु सेवा ।

देह सुचिहि ण सान्ति पावाः ॥

तीर्थ और तपोवन का सेवन मत कर । देह मात्र पवित्र करने से तू शान्ति प्राप्त न कर सकेगा ।

३—आवइ जाई कहवि ण णइ ।

गुरु उवाए सें हिअहि समाइ ॥

इसी प्रकार सरह पाद ने भी सामान्य तर्क से कर्मकांड और परंपराओं का परिहास किया है :—

४—वह णंग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह ।

लोम पाडणं अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह ॥

यदि तू नग्न रहता है तो कुत्ते और सियार की मुक्ति क्यों न होगी । यदि रोमोत्पादन में सिद्धि है तो युवती के नितम्बों को सिद्धि क्यों न मिलेगी ।

संत संप्रदाय के कवियों-विशेष कर कबीर, ने भी यही दृष्टि प्रदर्शन की है :

नगन फिरत जो पाइअै जोगु ।

बन का मिरग मुकति समु होगु ॥

किआ नागे किआ बाधे चाम ।

जब नहीं चीनसि आतम राम ॥

मूँड मुँडाये जो सिधि पाई ।

मुकती भेउ न गईआ काई ॥१

अंतर केवल यही था कि सिद्धों का संघर्ष प्रधान रूप से जैनों से था जो संघर्ष करना नहीं जानते थे । कबीर का संघर्ष वैदिक धर्म के अन्तर्गत विविध संप्रदायों से था जो पारस्परिक द्वेषाग्नि में ही पोषित हो रहे थे । इसलिए कबीर का स्वर अधिक प्रखर और उत्तेजनापूर्ण था । यों सहज गुरु उपदेश शून्य, खसम, निरंजन आदि को कबीर ने ज्यों का त्यों सिद्धों की विचारधारा से ऐसे ही

ग्रहण किया है जो नाथ सम्प्रदाय में भी प्रवेश पा गए थे। शैली की दृष्टि से भी सिद्धों की संघा भाषा में जो “कूट” और प्रतीक हैं, उन्हीं में कबीर की रूपक और उल्टबाँसियों का निर्माण हुआ है। डोम्बपा का चर्या पद है :—

गंगा जऊना मांफे रे बहई नाइ ।

तहि बुडिली मातंगि पोइया लीले पार करेइ ॥

बाहतु डोम्बी बाहलो डोम्बी बाटत भईल उछारा ।

सदगुरु पात्र पए जाईब पुणु जिण उरा ॥२

कबीर ने लिखा है :—

गंगा के संग सलिता बिगरी ।

सो सलिता गंगा होइ निबारी ॥

बिगरिओ कबीरा राम दुहाई ।

सभु भइओ अन कतहि न जाई ॥

संत न संगि कबीरा बिगरिओ ।

सो कबीर राम होई निबरिओ ॥३

इस भाँति यह स्पष्ट है कि सिद्ध साहित्य की विचार धारा का संत साहित्य पर विचार और शैली की दृष्टि से बड़ा प्रभाव है। यह प्रभाव संभव है नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से आया हो। नाथ सम्प्रदाय ने सिद्ध सम्प्रदाय का सिद्धान्तगत दृष्टिकोण तो स्वीकार किया, किन्तु आचारगत दृष्टिकोण को घृणा की दृष्टि से देखा। सिद्ध सम्प्रदाय में नारी के प्रति जो आसक्ति थी, वह नाथ सम्प्रदाय में विरक्ति बन गई और साधना का परम लक्ष्य ‘महासुह’ शिव और शक्ति की प्राप्ति की निरति और महारस में परिणत हो गया।

नाथ सम्प्रदाय—शैव सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण नाथ सम्प्रदाय में ‘शिव’ आदि नाथ के रूप में मान्य हुए। इस उपासना में योग का विशेष महत्व था। इस भाँति सिद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव लेकर नाथ सम्प्रदाय में कुछ विशेषताएँ आईं। जीव और ब्रह्म की

स्थिति हुई और उपासना में सदाचार और योग का अभ्यास माना गया ।

जीव और ब्रह्म : जीव सीव संगे वासा । बधिन षाड्बा रुद्र मासा । हंस घात न करिबा गोतं । कथंत गोरब निहारिपोतं ॥१॥

योग : इकवीस सहस्र षट्सां आद् पवन पुरिष जय माली ।

इलाप्यंगला सुषमन नारी अह्निसि बहै प्रनाली ॥२॥

संत सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध नाथ संप्रदाय से है । संत संप्रदाय ने सिद्ध संप्रदाय से आई हुई नाथ संप्रदाय की विचारधारा मूल रूप से ग्रहण की । भक्ति आन्दोलन के महासागर में भी योग का द्वीप संतों का विश्राम स्थल बना रहा । नाथ संप्रदाय की आचार निष्ठा, विवेक सम्पन्नता, अन्ध विश्वासों के तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता संत संप्रदाय में सीधी चली आई; यहाँ तक कि उल्टवांसियों की कुतूहलजनक शैली भी संतों को नाथ संप्रदाय से ही प्राप्त हुई । अनेक प्रसंग और उनकी अभिव्यक्ति में तो अनेक स्थलों पर साम्य है । उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

गोरख

१—अठ सठि तीरथ समंदि सभावे ।३॥

२—अरधै जाता उरधै धरे ।४॥

३—प्यंड पड़े तो सतगुर लाजे ।५॥

१—गोरख बानी—पृ० ३७ सं० पीताम्बर दत्त बड्थवाल

२—वही पृ० ६५

३—वही पृ० ५

४—संत कबीर पृ० १३७

५—गोरख बानी पृ० ७

४—काचै भाड रहै न पाणों । १

५—यहु मन सकती यहु मन सीव ।

यहु मन पांच तत्व का जीव ।

यहु मन लै जै उन मन रहै ।

तौ तीन लोक की बातों करै । २

कबीर

१—लउकी अठसठ तीरथ न्हाई । ३

२—अरधइ छाडि उरध जउ आवा । ४

३—पिंडु परै तउ प्रीति न तोरउ । ५

४—काचै करवै रहइ न पाणी । ६

५—इहु मनु सकती इहु मन सीउ ।

इहु मनु पंच तउ को जीउ ।

इहु मनु ले जउ उन मन रहे ।

तउ तीनि लोक की बातें कहै । ७

संभव है यह साम्य संप्रदायों के शिष्यों के परस्पर सम्बन्ध के फलस्वरूप हो, किन्तु समान विचारों की अभिव्यक्ति में कुछ समानता हो ही सकती है । इसी भाँति उल्टवांसी की पंक्तियाँ भी देखिए :—

गोरख— चीन्हां परवत ढाट्यां रे अवधू,
गायां बाघ विडारूया जी ।

१—संत कबीर पृ० ८१

२—गोरख बानी पृ० १२

३—संत कबीर पृ० १२५

४—गोरख बानी पृ० १४

५—संत कबीर पृ० १४८

६—गोरख बानी पृ० १८

७—संत कबीर पृ० ८२

सुस समदां लहर मचाई ।

मृघां चीता मार्या जी ॥^१

कबीर—

कहत कबीर सुनहु रे संतहु कीटी परवत खाइया ।

कछुआ कहै अंगार मिलोरउ लू की सबदु सुनाइआ ।^२

संत संप्रदाय की विचारधारा के निर्धारण में नाथ संप्रदाय का विशेष योग है । संत संप्रदाय ने नाथ संप्रदाय की भावभूमि पर निर्गुण उपासना के एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण किया जो विदेशी धर्म प्रचार के कठिन अस्त्रों से भी नहीं तोड़ा जा सका । कबीर ने नाथ संप्रदाय से स्फूर्ति ग्रहण करके भी अपनी साधना को एक स्वतन्त्र रूप दिया । उन्होंने नाथ संप्रदाय में मान्य शंकर (शिव) को भी अनेक स्थलों पर स्वीकार नहीं किया । एक उदाहरण देखिए :—

मडली धरती मडलिआ अकासु ।

घटि घटि मडलिया आतम प्रगासु ॥

राजा रासु, मडलिया अनत आई ।

जह देखहु तह रहिआ समाई ॥

दुतीआ मडले चारि वेद ।

सिमिति मडली सिउ कतेब ॥

संकरु मडलिओ जोग धिआन ।

कबीर को सुआमी सम समान ॥^३

यही नाथ संप्रदाय से भिन्न संत संप्रदाय की निर्गुण उपासना है ।

विट्ठल संप्रदाय—यह संप्रदाय दक्षिण में महाराष्ट्र संतों की भक्ति भावना से समृद्धिशाली बना । इस संप्रदाय में ज्ञानेश्वर और

१—गोरख बानी पृष्ठ १५४

२—संत कबीर पृष्ठ ६६

३—वही पृष्ठ २३०

नामदेव का प्रमुख स्थान है। संत संप्रदाय पर नामदेव का विशेष प्रभाव पड़ा। चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण में अलाउद्दीन खलजी सेनापति मलिक काफूर के आक्रमण से मुसलमानों का आतंक बढ़ा। इसी चौदहवीं शताब्दी में नामदेव का आविर्भाव हुआ।

उनकी मृत्यु सन् १३५० में हुई। नामदेव ने ५६ वर्ष मुसलमानों के आतंक का अनुभव किया। इसलिए उनकी दृष्टि भी मूर्तिपूजा से अधिक मानसिक भक्ति और नाम-स्मरण की ओर रही। नामदेव की विचारधारा और उनके आराध्य विठ्ठल की स्पष्ट छाप संत कबीर पर है। उदाहरण के लिए पद लीजिए :—

नामदेव—

जत्र जाऊँ तत्र वीठुल मेला ।

वीठुलियो राजि राम देवा ।

आणि लै कुभ भराय लै उदिक, बाल गोविन्दहि न्हाण रचौं ।

पहली नीर जु पंक बिटाल्यौ; जूठनि मैला काइ करौं ॥

आणि लै केसरि सूकडि समसरि, बाल गोविन्दहि षौलि रचौं ।

पहले वास मुयंगा लीन्ही, जूठनि मैला कहा करूँ ।

आणि लै घृत जोइ लै बाती, बाल गोविन्दहि जोति रचौं ।

पहली जोति पतंगी लीन्ही, जूठनि मैला कहा करौं ॥

आणि लै अग्र ओइलै धूपा, बाल गोविन्दहि वास रचूँ ।

पहली वास नासिका आई, जूठणि मैला कहा करौं ।

आणि लै तन्दुल रांघिलै पीरो, बाल गोविन्दहि भोग रचौं ।

पहली दूध जो वछा बिटाल्यौ जूठनि मैला कहा करौं ॥

आउ तौ विठुल जांउ तौ विठुल व्यापक भाया लो ।

नामे का चित्त हरि सौ लगा, तातें परम पद पाया लो ॥७॥१०॥

कबीर—

भिहु तजि बनखंड जाइये चुनि खाइअै कंदा ।

अजहु विकार न छोड़इ पापी मनु मंदा ।

किउ छूटउ कैसे तरउ भव जल निधि भारी ।

राखे राखु राखु मेरे वीठुला जनु सरनि तुम्हारी ।^१

पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में नामदेव और ज्ञानेश्वर का नाम विशेष प्रसिद्ध था । दोनों ने साथ साथ उत्तर भारत का पर्यटन भी किया था । कबीर ने अपने एक पद में नामदेव का नाम श्रद्धा से स्मरण किया है :—

गुर प्रसादी जै देउ नामां ।

भगति कै प्रेमि हनही है जाना ।^२

विशिष्टाद्वैत का भक्ति संप्रदाय—

यद्यपि संत संप्रदाय के विकास की एक स्वतन्त्र कड़ी थी और योग का अभ्यास ही उसकी साधना का अंग बन गया था, तथापि इस युग में भक्ति की जो धारा उत्तर भारत में लहरा उठी थी, वह सन्त संप्रदाय की साधना का अंग बन कर ही रही । यही नहीं, भक्ति का महत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि योग की कष्ट-साध्य क्रियाएँ नाम मात्र के लिए साधना के अन्तर्गत रह गई थीं ।^३ एकमात्र भक्ति उसके अन्तर्गत प्रेम की विश्वासमयी अनुभूति ही साधना की प्रमुख मान्यता बन गई थी । रामानन्द के प्रभाव से राम और उनकी भक्ति का प्रसार इतना अधिक था कि सन्त संप्रदाय में भी राम और उनकी भक्ति का रूप स्वीकार किया गया । यह बात दूसरी है कि राम का नाम ही सन्त संप्रदाय में मान्य हुआ, राम का व्यक्तित्व नहीं । राम के ब्रह्म रूप को विस्तार देने के लिए एक और अवतार की मूर्ति का खंडन किया गया और दूसरी ओर राम के अनेकानेक नाम तथा

१—नामदेव के पद (जोधपुर राज्य पुस्तकालय)

२—संत कबीर पृ० १५४

३—संत कबीर पृ० ३६

उनके निर्गुण रूप पर अधिक बल दिया गया। यह कुतूहल की बात अवश्य है कि कबीर ने अपने ब्रह्म के लिए ऐसे नाम भी स्वीकार किए जिनका सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूपों या अवतारों से है; किन्तु उनसे उनका अभिप्राय एकमात्र निर्गुण ब्रह्म से है।

उदाहरण के लिए—सारिंग पानी, मावउ, हरि, रघुराइआ, बनवारी, मधुसूदन, मुकुन्द, नारायण, गोपाल आदि अनेक नाम पदों में प्रयुक्त किए गए हैं। इसका एकमात्र कारण भक्ति का प्रभाव था जिससे ये नाम जन-जीवन में रत्न राशियों की भाँति बिखर गए थे और सन्त सम्प्रदाय उन नामों की अवहेलना नहीं कर सका। सन्त सम्प्रदाय द्वारा भक्ति ग्रहण करने के तीन प्रमुख कारण हो सकते हैं :—

१—नाथ सम्प्रदाय से आया हुआ योग-मार्ग केवल सम्प्रदाय के शिष्यों तक सीमित था, वह धार्मिक दृष्टि से गोपनीय और रहस्यवार्ता होने के कारण सर्वसाधारण को सुलभ नहीं था। साथ ही उसकी क्रियाएँ कष्ट-साध्य भी थीं।

२—सूफी सम्प्रदाय की “इश्क” (प्रेम) साधना पीरों और सन्तों द्वारा प्रचारित की जा रही थी जो भक्ति के समकक्ष ही थी।

३—विठ्ठल सम्प्रदाय तथा राम और कृष्ण सम्प्रदायों की भक्ति भावना जो जन जन में व्याप्त हो रही थी।

इस भाँति सन्त सम्प्रदाय निर्गुण ब्रह्म का समर्थक होते हुए भी भक्ति (जो सगुण ब्रह्म की अपेक्षा रखती है) की इस प्रेममयी आसक्ति की अवहेलना नहीं कर सका। कबीर ने एक स्थान पर योग की निन्दा करते हुए भक्ति की इस प्रेममयी अनुभूति का संकेत किया है :—

जोगी कहहि जोगु भल मीठा, अवरु न दूजा भाई ।

रुंड़ित मुंड़ित एकै सबदी, एइ कहहि सिधि पाई ।

हरि बिनु भरमि भुलाने अंधा ।

जा पहि जाउ आपु छुटकावनि बाधे बहु फंधा ॥

तजि बावे दाहने विकारा, हरि पदु दिडु करि रहिअै
कहु कबीर गूँगे गुड खाइबा, पूछे ते किआ कहिअै ॥^१

इसी भक्ति की प्रेमशक्ति में बराबर का रहस्यवाद पोषित हुआ ।

सूफी संप्रदाय—

सन्त साहित्य के प्रवर्तक कबीर मुसलमान थे, साथ ही साथ पर्यटनशील भी थे । मुसलमान होते हुए भी वे हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद नहीं मानते थे । इसलिए जब मुसलमानों के सहिष्णु समाज ने सूफीमत को प्रश्रय दिया तो कबीर ने भी अपने में भावानुकूल सूफीमत के तत्वों को ग्रहण किया और उन्हें अपनी साधना पद्धति में जोड़ दिया । मेरी दृष्टि में जो तत्व सन्त सम्प्रदाय को प्रभावित कर सके, उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

१—आचार की पवित्रता । सुफ (ऊन) की भाँति पवित्र जीवन जिस पर आध्यात्मिकता का पूर्ण रंग उभर सके ।

२—प्रेम और उसकी मादकता जिससे प्रतीकों के माध्यम में रहस्यवाद (तसव्वुफ) की अवतारणा हो सके ।

३—माया का मानवीकरण जो शैतान के समकक्ष ही है । जिस प्रकार शैतान बन्दे को सही रास्ते से हटाकर नफ्स परवरी (इन्द्रिया-सक्ति) की ओर ले जाता है, उसी प्रकार माया भी भक्त को ईश्वरीय प्रेम से हटाकर संसार के क्षणिक आकर्षणों के जाल में फँसा देती है ।

सूफी मत की जो विचारधारा-शैली थी, उसका स्पष्ट प्रभाव कबीर की अनेक रचनाओं पर है । एक रचना देखिए :—

वेद कतेव इफतरा भाई दिल का फिकर न जाइ ।
 टुकु दम करारी जउ करहु, हाजिर हुजूर खुदाइ ॥
 बंदे खोजु दिल हर रोज न फिर परेसानी माहि ।
 इह जु दुनिआ सिहरु मेला दसतगरीरी नाहि ॥
 दरोगु पडि पडि खुसी होइ बेखबर बादु बकाहि ।
 इकु सचु खालकु खलक मिआने सिआम मूरति नाहि ॥
 असमाने म्याने लहंग दरीआ गुसल करदन बूद ।
 करि फकर दाइम लाइ चसमे जहा तहा मउजूद् ॥
 अलाह पाक पाक है एक करउ जे दूसर होइ ।
 कबीर करम करीम का उहु करै जाने सोह ।

सूफी सम्प्रदाय ने कबीर को अनेकानेक प्रतीक दिए जिनसे कबीर का तत्व-चिंतन और रहस्यवाद पुष्ट था ।

उपर्युक्त सम्प्रदायों और उनके साहित्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर पर परंपरागत विचारधारा का प्रभाव तो अवश्य पड़ा, किन्तु वह प्रभाव युगानुकूल संशोधनों के साथ था । कबीर ने किसी सम्प्रदाय का अन्धानुकरण नहीं किया । उन्होंने जहाँ अनेक परम्पराओं को विवेक के साथ संशोधित रूप में ग्रहण किया, वहाँ उन्होंने अनेक परम्पराओं पर कठोर आघात भी किए । अतः सन्त साहित्य में परम्परा वहीं तक है जहाँ तक वह जीवन में कर्मकांड रहित निर्मल प्रेम से ईश्वर की सहजानुभूति प्राप्त करने में सहायक होती है ।



संत साहित्य के पूर्ववर्ती कवि

यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि रामानन्द ने जिन शिष्यों को भक्ति में दीक्षित किया था वे अपनी विचार-निष्ठा में स्वतंत्र थे। परम्परा और युग के प्रभाव को लेकर वे सगुण और निर्गुण उपासना के संधि-स्थल पर खड़े थे। यह अवश्य सत्य है कि क्रमशः उनका झुकाव निर्गुणोपासना की ओर होता जा रहा था। इनमें कबीर के अतिरिक्त सेन, धना, पीपा और रैदास विशेष प्रसिद्ध थे। इन पर संक्षेप में विचार करना उचित है।

सेन—इनका आविर्भाव काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी माना गया है। ये जाति के नाई थे। और बांधोंगढ़ नरेश राजाराम की सेवा में रहते थे। इन की भक्ति के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। साधु सँतों की सेवा में व्यस्त रहने पर स्वयं भगवान ने इनका रूप ग्रहण कर राजा की सेवा की, आदि। इनके सम्बन्ध में अधिक विवरण ज्ञात नहीं है। इनका एक पद गुरु ग्रन्थ साहब में दिया गया है।

धूप दीप घृत साजि आरती ।

धारने जाउ कमलापति ॥

मंगला हरि मङ्गला ।

नित जंगलु राजा राम राइ को ॥

उतम दिअरा निरमल बाती ।
 तुहीं निरंजनु कमलापती ॥
 रामा भगति रामानन्द जाने ।
 पूरनु परमानन्द बखाने ।
 मदन मुरति में तारि गोविंदे ।

सैणु भणै भणु परमानन्दे ॥ रागु घनासरी ॥१

विशेष दृष्टव्य है कि रामानन्द का नाम तथा कमलापति की आरती । यह पद स्पष्ट करता है कि सेन रामानन्द के समकालीन तथा उनके शिष्य थे ।

धना—इनका जन्म संवत् १४७२ में हुआ था । ये जाति के जाट थे और धुवान (राजपूताना) के निवासी थे । ये आरम्भ में मूर्ति पूजक थे । इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ हैं । ये रामानन्द से दीक्षित हुए और निराकारोपासना में प्रसिद्ध हुए । 'गुरु ग्रन्थ साहिब' से एक पद उदाहरण के लिए देखिए :—

भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु मनु धनु नहीं धीरे ।
 लालच बिखु काम लुवध राता मनि बिसरे प्रभु हीरे ॥
 बिखु फल मीठ लगे मन बसरे चार बिचार न जानिआ ।
 गुन ते प्रीति बड़ी अनभांती जनम मरन फिरि तानिआ ।
 जुगति जानि नही रिन्द निवासी जलत जाल जम फंद परे ।
 बिखु फल संचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभु मन बिसरे ।
 गिआन प्रवेशु गुरहि धनु दीआ धिआनु भानु मन-एक भये ।
 प्रेम भगति मानी सुखु जानिआ तृपति अघाने मुकति भए ॥
 जोति समाए समानो जाके अछली प्रभु पहिचानिआ ।
 घनै धनु पाइआ घरणी घरु मिलि जन संत समानिआ ॥

रागु आसा ॥१॥

संत धना की कविता में उपदेश की प्रवृत्ति अधिक है ।

पीपा—इनका जन्म संवत् १४८२ में हुआ था । ये गगरीलगढ़

नरेश थे। प्रथम भगवती दुर्गा के उपासक थे, बाद में रामानन्द से दीक्षित होकर वैष्णव हो गए। पीपा की भक्ति उत्कृष्ट कोटि की थी। इनके सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक चमत्कार कहे जाते हैं। उनकी कविता का उदाहरण भी गुरु ग्रन्थ साहब से लिया गया है—

कायउ देवा, काइअउ देवल काइअउ जंगम जाती ।

काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजउ पाती ॥

काइआ बहु खंड खोजते नव निधि पाई ।

न कछु आइबो न कछु जाइबो राम की दोहाई ॥

जो ब्रह्ममंडे सोई पिंडे जो खोवै सो पावै ।

पीपा प्रणवे परम तत्तु है सति गुरु होइ लखावे ॥

पीपा ने अपने काव्य से अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। इनका दृष्टिकोण अन्य समकालीन संतो से निगुण उपासना की ओर अधिक देखा जाता है।

रैदास—इनका आर्विर्भाव काल संवत् १४४५ तक माना जा सकता है, यद्यपि सन्त रूप में उनकी प्रसिद्धि दूर दूर स्थानों तक थी। ये काशी ही में निवास करते थे। उनकी कविता भावपूर्ण और सरल थी। उदाहरण देखिए—

प्रानी किया मेरा किआ तेरा ।

जैसे तरवर पंखि बसेरा ॥

राखहु कंध उसारहु नीवां । साढे तीन हाथ तेरी सीवां ॥

वंक बाल, पाग सिर डेरी । इहु तनु होगो भसम की डेरी ।

ऊँचे मंदर सुन्दर नारी । राम नाम बिनु बाजी हारी ॥

मेरी जाति कमीनी पांती । कमीनी ओछा जनम हमारा ।

तुम सरनागति राजा रामचन्द कहि रविदास चमारा ॥

उपर्युक्त चारों सन्तों की कविता भक्ति और उपदेश से पूर्ण है।

इन सन्तों की रचनाएँ कबीर के सन्त सम्प्रदाय की भूमिका मात्र

हैं। हिन्दी काव्य की इस पृष्ठभूमि को लेकर कबीर ने निगुण सम्प्रदाय का उत्तरी भारत में सूत्रपात किया। इस निगुण सम्प्रदाय को पुष्ट करने में नामदेव, त्रिलोचन, बेनी सधना आदि सन्त कवि हैं।

सन्त कबीर के दृष्टिकोण को आदर्श मानकर निगुण सम्प्रदाय में अनेक सन्त हुए हैं जिन्होंने अपने काव्य से सन्त काव्यके रूप में यथेष्ट साहित्य की रचना की। यदि इस काव्य पर भाव पक्ष की दृष्टि से विचार किया जाय तो चार कोटियाँ दृष्टिगत होंगी। ये कोटियाँ सन्तों की विशिष्ट अनुभूतियों को लेकर निर्धारित की जा सकती हैं, अन्यथा सामान्य रूप से निगुण सम्प्रदाय के आदर्श सभी सन्तों की रचनाओं में पाये जा सकते हैं। सन्त सम्प्रदाय की इन कोटियों और कवियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से है :—

प्रथम कोटि

तत्त्व दर्शी—कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, चरणदास, गरीबदास और तुलसी साहब।

द्वितीय कोटि

भावना-सम्पन्न—जगजीवनदास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब, (बिहार वाले), यारी साहब, सहजोबाई और दयाबाई।

तृतीय कोटि

स्वछन्द—मलुकदास, धरनीदास, दरिया साहब (मारवाड़) गुलाल साहब और भीखा साहब।

चतुर्थ कोटि

सूफी—बुल्लेशाह, पल्लू साहब

इन पर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

तत्त्वदर्शी कवि—

कबीर—तत्त्वदर्शी कोटि के कवियों में कबीर अग्रगण्य है।

इन्होंने पूर्ववर्ती परम्परा को परिमार्जित कर युगानुकूल विचार धारा का प्रवर्तन किया। इनकी रचनाओं में शास्त्रीय मान्यताओं के लिये उतना स्थान नहीं है जितना जीवन गत अनुभूतियों के लिए है। अतः कबीर की दृष्टि में शास्त्रीय दर्शन का महत्व नहीं है, जीवन-दर्शन का महत्व है। वे तत्त्व दर्शी हैं, सिद्धान्त दर्शी नहीं। इसीलिए वे निर्गुण सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त और कवि हैं।

सहज अनुभूतियों के आधार पर सन्त कबीर ने अपनी वाणी में जिस दर्शन का संकेत किया है वह जितना सत्य के निकट है, उतना ही व्यावहारिक भी है। कबीर जनता के कवि थे, इसलिए उन्होंने ऐसे आदर्श की उद्भावना की जो जनता द्वारा सहज ही समझा जा सके। मानसिक पवित्रता को धर्म का आधार मान कर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, नाथ सम्प्रदाय और सूफी सम्प्रदाय की ब्रह्म, जीव, माया और साधना सम्बन्धी उपर्युक्त और बोधगम्य बातें लेकर उन्हें अपने सीमा और सम्प्रदाय रहित धर्म में समन्वित स्थान दिया और निर्गुण और सगुण से परे ब्रह्म की योग और भक्तिमयी उपासना का दर्शन प्रस्तुत किया। भक्ति में प्रेम की प्रधानता रही और यही प्रेम अपनी चरम सीमा में सहज का रूप ग्रहण कर सका। इन्हीं प्रेम के प्रतीकों से उनका रहस्यवाद पुष्ट हुआ। ये प्रतीक जब जीवनगत सम्बन्धों में आये तो वे भक्ति के आधार बने, जब हठयोगी क्रियाओं में आए तो योग के आधारभूत साधन बने। जीवन और स्वाभाविक धर्म के युग्म में ही कबीर का दर्शन बना जिसकी अनुभूति में गुरु का विशेष महत्व है। कविता के उदाहरण में इनकी दो साखियाँ दृष्टव्य हैं :—

कबीर तूँ तूँ करता तू हुआ, मुझमें रही न हूँ।

जब आपा पर का मिटि गइआ, जउ देखउ तत तूँ ॥^१

उच भवन कन कामिनी सिखिर धजा फहराइ ।

ताते भली मधूकरी, सन्त सङ्ग गुन गाइ ॥^१

गुरु नानक—श्री गुरु नानक सिख धर्म के प्रवर्तक थे । इनका जन्म संवत् १५२६ में तलवंडी पंजाब में हुआ था । इनके दार्शनिक सिद्धान्त सन्त कबीर से बहुत मिलते जुलते हैं । इन्होंने एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा विरोध तथा हिन्दू-मुसलमानों में अभिन्नता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । सिख सम्प्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है । इनकी रचनाएँ गुरु ग्रन्थ साहब के पहले महले में संकलित हैं । जपुजी इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है उससे एक उदाहरण देखिए :—

तीरथ नावा जे तिसु भावा विणु माणु कि नाइ करी ।

जेती सिरठि उपाई वेखा विणु करमा कि मिलै लई ॥

मति विच रतन जवाहर माणिक जे इक गुरु की सिख सुगगी ।

गुरा इक देहि बुझाई ।

समना जीआ का इकु दाता सो मैं बिसरि न जाई ॥^२

दादू—इनका जन्म संवत् १६०१ में अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ था । स्वानुभूति और प्रेम की व्यंजना करने में दादू की रचनाएँ सफल हुई हैं । इन्होंने अपने सिद्धान्त पक्ष का निर्धारण कबीर की रचनाओं को आदर्श मान कर किया है । इनकी सब से बड़ी विशेषता एकेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति की है, जो इन्होंने प्रेम और विरह के माध्यम से कही है । उनकी भाषा सरल और मिश्रित है :—

सब लालों सिरि लाल है, सब खूनो सिर खूब ।

सब पाकौ सिरि पाक है दादू का महबब ॥^३

१. संत कबीर पृष्ठ २७०

२. संत सुधा सार-श्री वियोगी हरि सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली पृ० ४८८

३. वही पृ० ४८६

लोहा पारसि परसि करि पलटै अपना अंग ।

दादू कंचन ह्वै रहे, अपने साईं सङ्ग ॥

सुन्दरदास—इनका जन्म संवत् १६५३ में चौसा (जयपुर) में हुआ । ये दादू के शिष्य थे और इन्होंने काशी में विद्याध्ययन विशेष रूप से किया । इनकी रचनाओं का सर्वश्रेष्ठ गुण अनुभव-तत्त्व और काव्य-चमत्कार है । संत कवियों में सब से सुन्दर कविता संत सुन्दरदास की है । भक्तियोग, पञ्चेन्द्रिय निर्णय तथा सहजानन्द इनके प्रिय विषय हैं । उनके उपदेशों में सूक्ति चमत्कार भी है । उदाहरण देखिये :—

ग्रेह तज्यो अरु नेह तज्यौ पुनि खेह लगाइके देह सँवारी
मेघ सहे सिर सीत सखो तनु धूप समय जु पँचागिनवारी
भूख सही रहि रुख तरे परि सुन्दरदास सहे दुख भारी
डौंसन छाड़ि कै कांसन ऊपर आसन मारयो पै आस न मारी^३

चरणदास—चरणदास का जन्म संवत् १७६० में देहरा (अलवर) में हुआ । यद्यपि उनकी रचना साधारण है, किन्तु उसमें योग, भक्ति ज्ञान आदि की समीक्षा बड़े विस्तार से की गई है । संत कबीर की विचार-धारा में इन्होंने मूर्ति-पूजा का घोर तिरस्कार किया है । तन्मयता इनकी भक्ति का विशेष गुण है :—

अब घर पाया हो मोहन प्यारा ।

लखो अचानक अज अविनासी, उधरि गये दग तारा ॥

कूमि रह्यो मेरे आँगन में टरत नहीं कहूँ टारा ।

रोम, रोम हिय मांही देखो, होत नहीं छिन न्यारा ।

भयो अचरज चरन दास न पैये, खोज कियो बहु बारा ।

गरीबदास—इनका जन्म संवत् १७७४ में छुडानी (रोहतक) में हुआ था । ये जाति के जाट थे । संत कबीर की भाँति इनकी

प्रतिभा भी तत्त्वदर्शन में बहुमुखी थी। इनकी भाषा स्वाभाविक और मिश्रित है और इसमें अरबी-फारसी के शब्द स्वतन्त्रता के साथ-साथ लिए गए हैं। इन्होंने गुरु देव और स्मरण पर बहुत बल दिया।

नाम जपा तो क्या हुआ, उर में नहीं यकीन ।
 चोर मुसै घर लूट हीं, पाँच पचीसो तीन ॥
 कोटि गऊ जे दान दे, कोटि यज्ञ जेवनार ।
 कोटि कूर तीरथ खनै, मिटै नहीं जम भार ॥

तुलसी साहब—इनका जन्म १८८५ में हुआ। इनका समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ़) में व्यतीत हुआ और ये अपने को रामचरितमानसकार तुलसीदास का अवतार मानते थे। इन्होंने प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन किया है तथा निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या विस्तार से की है। शब्द योग की गहरी साधना को ही इन्होंने अपना लक्ष्य बनाया था। इनकी शब्दावली सरस और लोकप्रिय है। इन्होंने शृंगार के प्रतीकों से ब्रह्म साधना का संकेत किया है :—

सोहागिन न सुन्दरी, तुम बसहु पिया के देस ।
 नैहर नेह छाड़ि दे बौरी, सुन सतगुर उपदेश ॥
 कोटि करो इहां रहन न पैहो क्या धनि रङ्ग नरेश ।
 प्रभु के देस परम सुख पूरन, निरभय सुनत संदेस ॥
 जरा मरन तन एक न व्यापै, सोक मोह नहि लेस ।
 सब से हिल मिल वैर विषय तज परम प्रतीति प्रवेश ।
 दम पर दम हरदम प्रीतम सङ्ग तुलसी मिटा कलेस ॥

भावना-सम्पन्न—

इस कोटि के कवियों ने भक्ति की तल्लीनता ही अधिक प्रदर्शित की है। ज्ञान-विज्ञान की विवेचना में उनकी रुचि अधिक नहीं रही। इस संबंध में यदि उन्होंने कुछ लिखा भी तो वह केवल परम्परागत

ही है। प्रेम, दीनता ज्ञान, आदि मानसिक सत्प्रवृत्तियों पर उनकी विशेष आस्था है। ऐसे कवियों में निम्नलिखित कवि अधिक प्रसिद्ध हैं :—

जगजीवनदास—इनका जन्म संवत् १७२७ में सरदहा (बाराबंकी) में हुआ था। इन्होंने जाति-बंधन तोड़ने में अधिक रुचि दिखाई। इनकी साखियाँ सरल और उपदेश मय हैं :—

भूल फूल सुखकर नहीं, अबहूँ होहु सचेत।

साँई पठवा तोहिं कां, लावो तेहि के हेत ॥^१

यारी साहब—इनका जन्म संवत् १७२५ में दिल्ली में हुआ। इन्होंने कबीर की भाँति प्रतीकों का भी उपयोग किया है। इनकी रचना सरस और हृदयग्राही है !

विरहिनी मंदिर दियना बार।

बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उजियार।

प्राणपिया मेरे गृह आयो रचि रचि सेज संवार ॥

सुखमन सेज परम तत रहिया पिया निरगुन निरकार।

गावहु री मिलि आनन्दमंगल, यारी मिलि के यार ॥^२

दरिया साहब—(बिहार वाले) इनका जन्म अनुमानतः १७३० में हुआ। इनका निवास घरकंघा (आगरा था)। निर्गुण की भक्ति में इन्होंने दोहे चौपाई में बड़ी सरस रचना की हैं :—

दूजा दुबिधा जेहि नहि सोई। भगत सुनाम कहावै सोई ॥

ब्राह्मन सो जो ब्रह्महि चीन्हा। ध्यान लगाइ रहे लवलीना ॥

क्रोध मोह तृष्णा नहि होई। पंडित नाम सदा है सोई ॥

दरिया भव जल अगम अति, सतगुरु करहु जहाज।

तेहि पर हंस चढाइकै, जाइ करहु सुखराज ॥^३

१. संत सुधासार दूसरा खंड पृष्ठ ७०

२. " " " " " ७३

३. " " " " " ६६

गुलाल साहब—इनका जन्म संवत् १७५० में (भुरकुँडा ग्राम) गाजीपुर में हुआ था। प्रेम भक्ति और अनुभव इनकी कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनकी भाषा पूर्वी ढाँचे में ढली हुई है :—

कोउ नहि कहल मोरे मन कै बुझरिया।

घरि घरि पल पल छिन छिन डोलत, डालत साफ अँगरिया।

अब की बेर सुनो नर मूढो बहुरि न ल्यो अवतरिया।

कह गुलाल सतगुर बलिहारी भवसिंधु अगमधुराम तरिया ॥^१

दूलनदास—इनका आविर्भाव काल संवत् १७८० के लगभग है। इनका जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था। चेतावनी, उपदेश, प्रेम और विनय ने इनकी रचना में विशेष रूप से स्थान पाया है :—

राम नाम दुह अछरै, रहै निरंतर कोई।

दूलन दीपक बरि उठे मन परतीति जो होई ॥

चारा पील पिपीलकौ जो पहुँचावत रोज।

दूलन ऐसे नाम की कीन्ह चाहिये खोज ॥^२

सहजोबाई—इनका आविर्भाव संवत् १७४० से १८२० तक माना जाता है। इनका जन्म देहरा (राजस्थान) में हुआ था। ये चरण दास का शिष्या और बाल ब्रह्मचारिणी थीं। इनकी साधना उच्च कोटि की थी और ये गुरु को सर्वोपरि महत्त्व देती थी :—

हरि ने कर्म भर्म भरमायो। गुरु ने आत्म रूप लखायो।

हरि ने मौसू आप छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायो ॥

फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये। गुरु ने सब ही भरम मिटाये।

चरनदास परतन मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि कूँतजि डारूँ ॥^३

दयाबाई—इनका आविर्भाव काल भी संवत् १७४० से १८२०

१—संत सुधासार दूसरा खंड पृष्ठ १२२

२— ” ” ” ” ” ८६

३— ” ” ” ” ” १८१

तक माना जाता है और ये सहजोबाई के साथ चरणदास की शिष्या थीं। ये भी बाल-ब्रह्मचारिणी थीं। तन्मयता इनमें अधिक थी और ये गुरु के अतिरिक्त निर्गुण निरंजन और अजपा जाप पर विशेष ध्यान रखती थीं :—

पदमासन सँ बैठ करि अंतर दृष्टि लगाव ।
 दया जाप अजपा जपौ, सुरति साँस में लाव ॥
 चरनदास गुरु कृपा तें, मनुआ भयो अपंग ।
 सुनत नाद अनहद दया, आठो जाम अभंग ॥^१

स्वच्छन्द

इस कोटि कवियों ने किसी विशिष्ट विचार-धारा का प्रवाह अपनी रचनाओं के नहीं किया। ज्ञान वैराग्य, उपदेश, भक्ति, विश्वास जो विषय इन्हें परिस्थितियों के अनुकूल जान पड़ा उस पर उन्होंने रचना की। चेतावनी पर इन कवियों ने विशेष बल दिया है। इस कोटि के कुछ प्रमुख कवियों का विवरण इस प्रकार है।

मलूकदास—इनका जन्म संवत् १६३१ में कड़ा (इलाहाबाद) में हुआ था। ये निर्गुण के साथ ही सगुण की भक्ति भी करते थे। यह इनकी स्वच्छन्दता का प्रमाण है। प्रेम और विश्वास का परिचय इनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर मिलता है, यहाँ तक कि वे हरि को भी अपना भक्त मानते थे।

माला जपों न कर जपों जिभ्या कहौं न राम ।
 सुमिरन मेरा हरि करै मैं पाया विसराम ॥
 राम राय असरन सरन, मोहि आपन करि लेहु ।
 सन्तन सँग सेवा करों, भक्ति मजूरी देहु ॥^२

धरनीदास—अन्तर्साक्ष्य से इन्होंने शाहजहाँ के उत्तराधिकारियों

१—संत सुधासार दूसरा खंड पृष्ठ २०५

२— " " " " " ११३

में युद्ध का संकेत किया है। इन्होंने अपना सांसारिक वैभव छोड़कर सहसा वैराग्य ले लिया। ये माफी गाँव (छपरा) के निवासी थे, अतः इनकी भाषा पर भोजपुरी का प्रभाव है। वैराग्य, विरह और मिलन के अनेक चित्र इनकी कविता में दृष्टिगत होते हैं :—

ज्ञान को बान लगे धरनी जन सोवत चौंकि अचानक जागे।

छूटि गयो विषया विष बन्धन पूरन प्रेम सुधारस पागे ॥

भावत वाद विवाद निषाद, न स्वाद जहाँ लगी सो सब त्यागे।

मूँदि गई अखियाँ तब ते जब तें हिये में कछु हेरन लागे ।^१

दरिया साहब—इनका जन्म संवत् १७७३ में जैतारन (मारवाड़) में हुआ। ये जाति के धुनियाँ (मुसलमान) थे और कबीर साहब को अपना आदर्श मानते थे उन्होंने कबीर की उल्टबाँसियों का भी अनुसरण किया है। अन्य स्थलों पर भाषा सजीव और सरस है—

बढ़ के बढ़ लागे नहीं बढ़ के लागे बीज।

दरिया नान्हा होय कर, राम नाम गह चीज ॥

नारी जतनी जगत की, पाल पोष दे पोष।

मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोष ॥^२

गुलाल साहब—इनका जन्म अनुमानतः संवत् १७५० माना जाता है। ये मुरकुन्डा (गाजीपुर) के जमीन्दार थे। बाद में बड़े प्रसिद्ध भक्त हो गये। भाषा सहज और स्वाभाविक है, प्रेम और विरह के बड़े सुन्दर चित्र इन्होंने उपस्थित किये हैं। भाषा पर पूर्वीपन की छाप है :—

सबद सनेह लगावल हो, पावल गुरु रीती।

पुलकि पुलकि मन भावल हो, ढहली भ्रम भीती ॥

१ संत सुधासार दूसरा खंड पृष्ठ ४७

२ „ „ „ „ „ ११३

संतन कहल पुकारी हो, जिन सुनल बाती ।

सो जन जम तें बाचल हो, मन सारंग पानी ॥^१

भीखा साहब—इनका जन्म संवत् १७७० के लगभग है । ये गुलाल साहब के शिष्य थे । इनकी रचना कोमल और मधुर है, किन्तु शब्दों के प्रयोग में बड़े स्वतन्त्र थे, प्रेम परिचय और उपदेश इनकी रचना में विशेष रूप से स्पष्ट हुए हैं :—

प्रीति यह रीति बखानौ ।

कितनौ दुख सुख परे देह पर चरन कमल कर ध्यानौ ।

हो चैतन्य विचारि तजो भ्रम, खौड धूरि जनि सानौ ॥

जैसे चात्रिक स्वाति बिन्दु बिन प्रान समर्पण ठानै ।

भीखा जेहि तन राम भजन.नहिं काल रूप तेहि जाने ॥^२

सूफी

इस कोटि के कवियों ने संत सम्प्रदाय के सभी तत्वों को ग्रहण किया, किन्तु उन तत्वों का निरूपण सूफी सिद्धान्तों के आधार पर ही किया । सूफी सम्प्रदाय की शब्दावली भी अनेक स्थलों पर आ गई है । ऐसे दो प्रमुख कवियों का विवरण निम्नलिखित है ।

बुल्लेशाह—इनका आविर्भाव काल सम्वत् १७६० से १८१० तक माना जाता है । यों तो इनका जन्म स्थान रूम कहा जाता है, किन्तु इन्होंने अपनी वाणी का प्रचार कुसूर (लाहौर) में किया है । ये एक प्रसिद्ध सूफी थे । इनकी वाणी में प्रेम और उपदेश विशेष रूप से स्थान पा सके हैं । इनकी भाषा पर पंजाबी प्रभाव है ।

बुल्ला हिजरत बिच अलाह दे,

मेरा नित है खास अराम ।

नित-नित मरां ते नित जिया,

मेरा नित-नित कूच मुकाम ॥

१ संत सुधासार दूसरा खंड पृष्ठ १३३-१३४

२ " " " " " १४२

बुल्ला आसिक हो यों रष्व दा,
मुलामत होई लाख ॥
लोग काफर काफर आख दे,
तू आहो-आहो आख ॥^३

पलटू साहब—इनका आविर्भाव संवत् १८५० के लगभग समझा जाता है। ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे। इनका जीवन अधिकतर अयोध्या में ही व्यतीत हुआ। इन्होंने कुंडलियों की रचना अधिकतर की है। ये कुंडलियाँ कबीर की साखियाँ के आधार पर ही हैं। इन्होंने सूफीमत के नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत आदि का भी वर्णन बड़े विस्तार से किया है। आशिक का वर्णन देखिये :—

जीते जी मरिजाय, करै ना तन की आसा।
आसिक का दिन रात, रहै सूली पर बासा।
मान बढ़ाई खोय नींद भर नाही सोना।
तिल भर रक्त न मांस, नहीं आसिक को रोना।

इन कवियों के अतिरिक्त संत साहित्य में अनेक संतों का योग है जिनकी रचनाएँ आज भी देश के विविध स्थानों में श्रद्धा और भक्ति से कही और सुनी जाती हैं। इन संतों में धनी, धरमदास, सुथरादास, वीरभान, लालादास, बाबादास, हरिदास, स्वामी प्राणनाथ, रज्जवज्जी, वषना जी, वाजिद जी, बुल्ला साहब, बालकृष्ण, सहजानन्द और गाजीदास विशेष प्रसिद्ध हैं। अधिकतर इन संतों के सम्प्रदाय भी स्थापित हो गये हैं सबसे बड़ी बात यह है कि इन सम्प्रदायों से देश की वह जनता धार्मिक बनी हुई है। जो समाज शास्त्रियों की दृष्टि में निकृष्ट, दलित और अछूत हैं।

कबीर दर्शन

सहज अनुभूतियों के आधार पर संत कबीर ने अपनी वाणी में जिस दर्शन का संकेत किया है वह जितना सत्य के निकट है उतना ही आनन्द का संचारी भी है। कबीर जनता के कवि थे और उन्होंने ऐसे ही दर्शन की उद्भावना की है, जो जनता द्वारा सहज ही समझा जा सके। कबीर का आर्वाभाव विक्रम की पन्द्रहवीं शती में हुआ था। उस समय राजनीतिक क्षेत्र में जहाँ भारतीय और धार्मिक क्षेत्र में दर्शन की असहिष्णुता थी वहाँ धार्मिक क्षेत्र में केवल आचार्यों के पास थी जिनकी शास्त्रीय व्याख्या जनता के ऊपरी धरातल छूती हुई बड़ी जा रही थी। जनता के मन से उसका निकट सम्बन्ध नहीं था। यह बात अवश्य थी कि शताब्दियों से धर्म की व्यवहारिक रूप-रेखा जनता के द्वारा ग्रहण अवश्य की जा रही थी, किन्तु उसमें क्रान्तियाँ होती रहती थी। बौद्ध और वैदिक धर्म विशेष को राज्य का संरक्षण प्राप्त होने पर उभरने का अवसर अवश्य मिल जाता था। राज्यानुमोदित होने पर धर्म की ऊपरी और व्यवहारिक रूप-रेखा अवश्य ग्रहीत हो जाती थी। किन्तु संस्कार वैसे ही चले जा रहे थे। जनता का विश्वास और श्रद्धा-भाव सरलता से दूर नहीं किया जा सकता। अतएव बौद्ध और वैदिक-धर्मों की समान बातों के अतिरिक्त विशेष बातों का ग्रहण देर से ही होता था। यों जीवन

की सात्विकता में दोनों धर्मों की समान आस्था है। यह सात्विकता शताब्दियों भारतीय जनता के मन की मूल बात से बनी रही है। भारतीय नरेशों की उदारता के कारण अनेक कालों में वैदिक और बौद्ध-धर्म के समान्तर रूप से चलते रहे।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक वैदिक और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित कर चुके थे। वैदिक-धर्म की अवतार-भावना बौद्ध धर्म में आ चुकी थी और बौद्ध-धर्म की साधना कर्मकाण्डों की शिथिलता के साथ वैदिक धर्म में प्रवेश पा चुकी थी। स्वयं रामानन्द ने ही जाति-बंधन की जटिलता दूर कर दी थी और महायान की जाति सम्बन्धी उपेक्षा के समानान्तर वैदिक धर्म में भी यही भावना चल पड़ी थी, “जाति-पाँति पूछें नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।” इस भाँति यह सरलता से देखा जा सकता है, कि दार्शनिक दृष्टिकोण से कबीर वैदिक और बौद्ध-धर्म के संधि-स्थल पर खड़े हुये हैं, और धार्मिक विश्वासों की नींव पर एक व्यवहारिक धर्म की प्रेरणा जनता को दे रहे हैं।

यह तो स्पष्ट है, यदि भारतीय धर्म और दर्शन की सम्पत्ति केवल आचार्यों के ही हाथ में होती तो जनता अपने आध्यात्मिक जीवन में इतनी जागरूक न होती। यह कार्य जनता के कवियों का ही था, कि उन्होंने शास्त्र के कठिन पाश में बँधे हुए धर्म और दर्शन को जनता की सहज भावनाओं तक पहुँचाया। शास्त्र से निकलने पर दर्शन अपनी रूप-रेखा पर पहिले ही बिखर गया था, किन्तु वह सरल हो गया, जन साधारण के पास पहुँच गया। यह कहना युक्ति संगत होगा कि जनता के सम्पर्क से ही धर्म और दर्शन जीवित रहते हैं, पुस्तकों में तो उनकी प्रतिमाएँ हैं।

कबीर भी जनता के कवि थे और उन्होंने अपने समय की सभी धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियाँ जो आचार्यों के केन्द्रों में सीमित

थीं, मुक्तकर जन-साधारण में प्रचारित कर दी। यह कितना कठिन काम था, कि संस्कृत अथवा अरबी-फारसी के विशिष्ट सिद्धान्तों को शब्दों में ऐसा उतार देना कि अशिक्षित व्यक्ति भी आनन्द से भूम उठें। तुलसी, सूर, कबीर ऐसे ही कवि थे, जिन्होंने यह कठिन काम सरलता से किया। उन्होंने अपने युग की जनता को ऐसी प्रेरणा दी कि वह कठिन से कठिन परिस्थिति का सामना करते हुये अपने व्यक्तिगत विश्वासों की रक्षा कर सके।

ऊपर की बातें समझ लेने के बाद हम कबीर के दर्शन की वास्तविकता जान सकेंगे। कबीर का दर्शन किसी विशेष शास्त्र से नहीं लिया गया। शास्त्रों में उनकी आस्था नहीं थी क्योंकि शास्त्र एक विशेष दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं, और वे साम्प्रदायिकता के आधार पर टिके होते हैं। कबीर ने धर्म और दर्शन को सम्प्रदाय की वस्तु नहीं माना, क्योंकि वे अपने धर्म में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं चाहते थे। शास्त्र और धर्म के अध्ययन और तर्क की अपेक्षा अनुभूति और विश्वास होना चाहिये। अनुभूति और विश्वास साधना से प्राप्त होते हैं, अतः धर्म और दर्शन वही है जो साधना से प्राप्त किया जा सके।

साधना की प्राप्ति गुरु और सत्संग से ही उपलब्ध हो सकती है। गुरु अनुभव-ज्ञान से परिपूर्ण है इसलिये वह शिष्य के जीवन की कठिनाइयों को समझता हुआ उसे उसकी ग्रहण शक्ति के अनुसार अनुकूल ज्ञान प्रदान करता है। यह अनुभव-ज्ञान सत्संग से बढ़ और विकसित होता है। इस प्रकार साधना में गुरु और सत्संग का बहुत महत्व होता है। कबीर ने दर्शन की कल्पना इसी आधार पर की है जिसके अनिवार्य अंग हैं गुरु और सत्संग।

अब एक सीढ़ी और आगे बढ़िये। गुरु और सत्संग से जो साधना प्राप्त हुई उसका आवश्यक परिणाम है आत्म-ज्ञान, चितन और अनुभूति। अपने आप को जानना सबसे कठिन है। संसार में

लांग बाहरी बातों को समझने वाले हैं, पंडित हैं; किन्तु अपने आत्म-तत्त्व को समझने वाले नहीं हैं यही कारण है कि वे धर्म और दर्शन की बाहरी बातों में ही उलझे रहते हैं। जरा-जरा सी बात पर उलझ पड़ते हैं और सच्चे धर्म से विपरीत बातों को ही धर्म के नाम पर प्रचारित करते हैं। उन्हें आत्मतत्त्व के माध्यम से सच्चे तत्त्व से साक्षात्कार नहीं होता और उनका धर्म उनके जीवन को चराचर की संतुलित दृष्टि से धारण नहीं करता और उनका दर्शन उनके आत्मतत्त्व का वास्तविक दर्शन नहीं है। इस प्रकार कबीर का दर्शन गुरु सत्संग और आत्मज्ञान से निर्मित है।

शास्त्रीय जटिलताओं को उनमें कोई स्थान नहीं है। उनके दर्शन में अभी हुई अनेक बातें उपनिषद्, भारतीय षट्दर्शन, बौद्ध धर्म, सूफी सम्प्रदाय से मिलती जुलती हैं। अन्ततः उपर्युक्त सभी दर्शन और सम्प्रदाय भी किन्हीं विशिष्ट साधकों के आत्मचिंतन के परिणाम हैं। यदि कबीर ने अपने आत्मचिंतन में उन्हीं तत्वों को प्राप्त किया हो, जो उपर्युक्त सभी दर्शन और सम्प्रदायों के साधकों ने अपनी अनुभूति से प्राप्त किया था। यह बात भी सम्भव है कि कबीर के अपने दर्शन के तत्वों की प्राप्ति गुरु अथवा सत्संग के द्वारा हुई है, इन माध्यमों से और भी परिष्कृत कर लिया हों। अतः यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि कबीर अपने दर्शन के लिये किसी शास्त्र अथवा सम्प्रदाय के श्रुणी नहीं है। उनका दर्शन उनकी स्वार्जित सम्पत्ति है, जो उन्होंने अपने युग में जनता की स्फूर्ति से प्राप्त किया है।

मैंने युग की बात कही। कोई भी सन्त या महात्मा कितना भी बड़ा हो, प्रभावों या युग से बच नहीं सकता। इसी प्रकार कबीर पर भी युग का प्रभाव पड़ा, इसमें संदेह नहीं। कबीर का युग जो पंद्रहवीं शताब्दी में आता है अनेक संघर्षों का युग था। महायान से विकसित वज्रयानी परम्परा के सिद्धों की वाणियाँ सिद्धों की

कमल-कुलिष-साधना की प्रतिक्रिया में नाथपंथियों की योगमूलक सूक्तियाँ, श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद अथवा मायावाद की ब्रह्म-जिज्ञासायें, श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य की भक्ति विषयक भावनायें, सभी तत्कालीन वातावरण को आन्दोलित कर रही थीं। कबीर ने प्रत्येक सम्प्रदाय से, धर्म से, तत्व ग्रहण किया और रस की बूँद एकत्रित कीं। उन्होंने उस मधुप-वृत्ति का परिचय दिया जो नाना रंग और सुगंधि के फूलों से मधु एकत्र कर उन्हें एक रंग एक स्वाद में ढाल देती है। इसी भाँति कबीर ने सभी सम्प्रदायों और धर्मों से सार तत्व ग्रहण किया। उन्हें सरसता और एकरूपता प्रदान की। संकीर्णता और अन्ध-विश्वास से दूर होकर उन्होंने धर्म और दर्शन को विश्वदर्शन का रूप दिया।

जैसा मैंने ऊपर निवेदन किया है, उन्होंने धर्म और दर्शन की कठिन से कठिन और गंभीर से गंभीर बातों को अत्यंत सरल ढंग से कहा था। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी शैली को दृष्टान्त शैली या रूपक शैली में उपस्थिति किया है। किसी कठिन बात को समझाने के लिये उदाहरण देने की आवश्यकता होती है। कबीर ने उदाहरण देने की दृष्टि से जीवन में घटित होने वाले साधारण कार्य-व्यापार की गहराई से प्रवेश कर उन्हीं से अपने सिद्धान्तों की स्पष्टता या प्रभावोत्पादकता बढ़ाने की कुशलता प्रदर्शित की है। जनता को ये बातें सरलता से हृदय-ग्राह्य हो जाती हैं, क्योंकि कबीर के द्वारा किये गये उदाहरण और रूपक उनके जीवन में प्रतिदिन ही घटित होते रहते हैं। उदाहरण के लिये उनके रूपकों में आम, ओला, कसौटी, किसान, गगरी, गाँव, थैली, दही, दीपक, साँप सवार, हल्दी, हाँड़ी, हाथी, बाजीगर, आदि अनेक प्रकार के रूपक उपयोग में लाए गये हैं। इन जाने पहिचाने रूपकों से दर्शन की कठिन बातें भी आसानी से समझ में आ जाती है। ईश्वर संसार में व्याप्त है। सूक्ष्म बुद्धि वाला तुच्छ जीव उसे सरलता

से पा सकता है। ईश्वर को खाँड़ का रूपक देते हुए कबीर कहते हैं :—

“हरि है खाँड़ रेत मँहि बिखरी,
हाथी चुनी न जाई,
कहि कबीर गुरु भली बुझाई
चीटीं होई के खाई॥”

इस शैली से कबीर ने अपना दर्शन बड़ी सरलता से कह दिया है। कबीर का सिद्धान्त नाथ सम्प्रदाय के संतो से बहुत मिलता है।

कबीर के दर्शन में चार बातों की प्रधानता है। सब से प्रथम ब्रह्म, दूसरा साधना, तीसरा जीवात्मा की शुद्ध रूपकी अनुभूति और चौथा स्थान माया का है, जिसके प्रतिकार में संसार के लोगों को कबीर ने बड़ी चेतावनी दी है। ब्रह्म जीव और माया की विवेचनाएँ अद्वैतवाद के समीप तक पहुँचती हैं और साधना की भी मीमांसाएँ सूफीमत के इश्क, नाथ सम्प्रदाय के हठ योग और विशिष्टाद्वैतवाद के भक्ति सिद्धान्त को स्पर्श करती हैं। इस प्रकार विविध संप्रदायों के तात्त्विक विचार-कणों से कबीर ने अपने दर्शन की प्रतिष्ठा की और उसमें आत्म चिन्तन और जीवन के अनुभव को प्रधानता दी। उसमें रूपकों की अनेक लहरियाँ संचरित हो रही हैं। वैदिक दर्शन का तत्त्व-दर्शन और बौद्धदर्शन का सरल आचार लेकर कबीर ने एक नये दृष्टिकोण से धर्म और दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसीलिये मैंने प्रारम्भ में निवेदन किया कि कबीर वैदिक और बौद्ध धर्म के सन्धि-स्थल पर खड़े हुये हैं और धार्मिक विश्वासों की नींव पर एक व्यवहारिक धर्म की प्रेरणा जनता को दे रहे हैं।

ब्रह्म के रूप-सम्बन्ध में कबीर ने ऐसी निराकार और निर्गुण ब्रह्म की साधना की है, जो प्रकृति के समस्त अनुबन्धों से रहित

होकर भी संसार के कण-कण में व्याप्त है, इसलिये वह सदा ही साधक के समीप है। ब्रह्म जिज्ञासा के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

चंदु सुरज दुई ज्योति सरूप ।

जोति अंतरि ब्रह्म अनूप ॥

करू रे ज्ञानी ब्रह्म विचार ।

ज्योति अंतरि धरिआ पसार ॥

हीरा देखि हीरै कर अदेसु ।

कहै कबीर निरंजन अलेखु ॥

अर्थात्, चन्द्र और सूरज दोनों ज्योति के स्वरूप हैं। उस ज्योति के भीतर अनुपम ब्रह्म है। ऐ ज्ञानी ! तू ब्रह्म का विचार कर। ज्योति के भीतर ही उसने अपना विस्तार किया है। कबीर कहते हैं, कि हे हीरे ! (संत) तू निरंजन और अलखरूपी (पवित्र और ज्योतिपुञ्ज ईश्वर) को देखकर प्रणाम कर।

इस ब्रह्म को प्राप्त करने में गुरु की सहायता अपेक्षित है। उसी के द्वारा जीवात्मा अपने मूल रूप ब्रह्म में लीन होता है। कबीर कहते हैं :—

भाई मोहि अवरु न जानिओ आना ना ।

सिव सनकादि जासु गुन गावहिं तासु बसहि मेरे प्राणा ना ।

हृदय प्रगासु ग्यान गुर गंभित गगन मंडल महि ध्याना ना ।

विरवै रोग में बंधन भागे मन निज धरि सुख जाना ना ।

कहि सकति सिव सहजु प्रगासिओ एकै एक समाना ना ।

कहि कबीर गुरु भेंटि यहाँ सुख भ्रमत रहे मन माना ना ॥

साधना में कबीर ने अनेक मार्गों का अनुसरण किया है। कभी वे भक्ति की ओर अग्रसर होते हैं :—

जो जनु भाइ जगति कछु जानै ताकउ अचरज काहो ।

जिउ जलु जल महि पैसि न निकसै तिउ दुरि मिलिओ जुलाहो ॥

कभी वे योग की ओर ध्यान देते हैं :—

उलटत पवन चक्र खटु भेदे सुरत सुन अनुरागी ।
आवै न जादू मेरे न जीवै तासु खोज वैरागी ॥
मेरे मन मन ही उलटि समाना ।

गुरु परसादि अकल भई अवरै न तरु था बेगाना ।

वे कभी सूफीमत के प्रभाव से आत्म-विश्लेषण करते हैं :—

वेद कतेब इफ़तरा भाई दिल का फिकर न जाई ।
टुक दम करारी जउ करहु हाज़िर हुजूर खुदाई ॥
बंदे सोजु दिल हर रोज़ न फिर परेसानी माहिं ।
इहि जु दुनियाँ सिहरु मेला दसत गीरी माहीं ।
अलाह पाक पाक है इक करऊ जो दूसर होई ।
कबीर करम करीम का इहु करै जानै सोई ॥

साधना के पक्ष में कबीर ने 'नाम' और 'सहज' पर विशेष ध्यान दिया है। यह मानसिक पवित्रता के लिये आवश्यक है। कबीर कहते हैं :—

अह निसि एक नाम जो जागे ।
केतक सिध भए लिव लागे ॥
साधक सिध सकल मुनि हारे ।
एक नाम कलिष तर तारे ॥
जो हरि हरै सु होय न आना ।
कहि कबीर राम नाम पढ़ाना ॥

सहज की व्याख्या महात्मा कबीर ने दी है। वे कहते हैं :—

सहज की अकथ कथा है निरारी ।
तुलि नहि चढ़ै जाई न, मुकाती, हलुकि, लगै न भारी ॥
अरध, उरध दोउ तहँ नाहीं, राति दिन सुतहँ नाहीं ।
जलु नहि पवनु पावनु, फुनि नाहीं सतिगुर तहाँ ससाही ॥

अगम अगोचर रहे निरंतरि, गुर किरपा ते लहिअै ।

कहु कबीर बलि जाइ गुर अपने सत संगत मिलि रहिअै ॥

माया के सम्बन्ध में कबीर ने बड़ी चेतावनी दी है । यह विश्वास घातिनी है अस्थिर है, क्षण भंगुर है, इसने संसार को ठगा है । यह केवल 'अज्ञान' नहीं है, वरन अज्ञान में ले जाने वाली अहेरिन है । कबीर कहते हैं :—

सगल माहि नकटी का बासा सगल मार अऽहेरी ।

सगलिया की हउ बहिन भानजी, जिनहि बरी तिमु चेरी ॥

हमरो भरथा बड़ो विवेकी आपै संतु कहावै ।

ओहु हमारे माथै काइमु हमरै निकरिन आवै ॥

इस भाँति कबीर ने अपने दर्शन को आत्म-चिंतन और सहज के द्वारा सर्वसाधारण के लिये सुलभ बना दिया है । उन्होंने धर्म और दर्शन को जीवन का अंग बनाकर हमें वास्तविक रूप से आत्म-जागरण दिया है और अंध-विश्वासों और आडम्बरों को दूर कर हमें चिरकाल के लिये मानसिक स्वास्थ्य दिया है ।



भक्त कवियों पर युग-प्रभाव

कवि युग निर्माता होता है। अपने अनुभव और जीवनगत अन्तर्दृष्टि से वह न केवल अपने युग की प्रवृत्तियों का नियामक होता है; प्रत्युत् शताब्दियों की विचारधारा की गतिविधि भी देख सकता है। इसका कारण यह है कि कवि मानव-जगत् का पूर्ण अधिकारी है। मानव जीवन के संपूर्ण मनोविज्ञान में गतिशील है। उसे जीवन की विविध परिस्थितियों में होने वाले मन के सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्पन्दन का पूर्ण ज्ञान है और उसकी श्रवणेन्द्रिय मानवता के रक्त की पुकार से परिचित है। अतः वह जानता है कि किन परिस्थितियों में मानव, पुरुष हो या स्त्री, किस प्रकार क्रियाशील अथवा प्रतिक्रियाशील होकर आचरण करेगा। मनुष्य ती प्रवृत्तियाँ एक हैं। प्रेम, घृणा, हर्ष, शोक, प्रसन्नता, अवसाद, उत्साह, निराशा, क्रोध, शांति प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आन्दोलन मचाया करती हैं। मनुष्य चाहे भारत का हो, चाहे अमेरिका का, चाहे दक्षिण अफ्रीका का हो, चाहे उत्तरी जापान का, उसकी अभिव्यक्ति में कुछ अन्तर भले ही हो; किन्तु मूलतः प्रवृत्तियाँ एक हैं। अतः जब कवि इन मानव प्रवृत्तियों पर पूर्ण अधिकार के साथ अपनी लेखनी उठाता है तो उसकी कृति समस्त संसार में जहाँ तक मानवता का क्षेत्र है आदर और श्रद्धा का निर्माल्य बनती है। यही कारण है कि सूरदास

की यशोदा संसार में समस्त माताओं का प्रतिनिधित्व करती है और बाल-कृष्ण संसार के समस्त बालकों के साथ क्रीड़ा कर सकते हैं। तुलसी के राम संसार के किसी भाग में लोक-मर्यादा की स्थापना कर सकते हैं और भरत आत्मीयता की अपार सम्पत्ति लिए हुए भी किसी स्नेहप्रवण छोटे भाई का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। मीरा के 'गिरधर नागर' का प्रतिबिम्ब किसी भी प्रेमी पति में देखा जा सकता है। कबीर की विरहिन किसी भी विरहिनी के आँसुओं में अपनी स्मृति के चित्र देख सकती है। ऐसे कवियों की रचनाओं में विश्वजनीनता अनन्त कण्ठों से मुखरित होती है और वे शताब्दियों के मानव को दया, क्षमा, उपकार, आत्मसमर्पण और विश्वकल्याण का संदेश दे सकती हैं। इस विश्वजनीनता के साथ ही जैसा मैंने पहले कहा, कवि अपने युग की प्रवृत्तियों का नियामक भी होता है। वह अपने विशाल अनुभव और जीवनगत अन्तर्दृष्टि से समाज अथवा युग के समस्त कार्य-व्यपारों को भी समझता है, देखता है। वह अपने युग के समाज की बिखरी हुई ईंटों से मानवता के राजभवन का निर्माण करता है। अतः यह भी संभव है कि वह अपने युग में उठने वाली या समाज को आन्दोलित करने वाली प्रत्येक प्रगति को हृदय-गम करे, उससे लाभ उठाये। यह भी संभव हो सकता है कि वह उनसे प्रभावित ही न हो। कवि समाज का प्राणी है, अतः समाज की परिस्थिति का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यह बात अलग है कि वह उस प्रभाव को अपने निर्माण का एक अंग बना ले या उसी प्रभाव को अपना शक्तिशाली आयुध बनाकर समाज या युग में समूल परिवर्तन ला दे। पश्चिम के आलोचकों ने साहित्य को ऐसा युग कहा है जो पितृहन्ता है। यह साहित्यरूपी पुत्र समाज-रूपी पिता से उत्पन्न होता है और आगे चलकर उसी समाज में परिवर्तन कर उसकी हत्या करता है, किंतु मैं उससे सहमत नहीं। साहित्य में हिंसा होती ही नहीं। जिस साहित्य में हिंसा होती है वह

साहित्य मानव को कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकता । साहित्य विनाश नहीं, उसे सुधार सँवार कर प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है । साहित्य की महत्ता पिता की महत्ता है । वह अपने समाज-रूपी शिशु की प्रवृत्तियों को देखकर उनका पारिष्कार एवं मानवता के श्रेष्ठ गुणों से समन्वित कर बल देकर शताब्दियों के लिए कर्मठ बना देता है । अतः मैं साहित्य को पुत्र नहीं, पिता समझता हूँ । साहित्य की विचारधारा अनन्त है और समाज का निर्माण तो युग के प्रभावों से है । इसलिए मैं समाज को इतना महत्व नहीं देता, जितना साहित्य को । साहित्य प्रधान है, समाज गौण ।

समाज का और युग का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है, यह किसी न किसी अंश में सत्य अवश्य कहा जा सकता है; परन्तु साहित्य समाज में निवास करता है । अतः समाज की प्रवृत्तियाँ उसके सम्पर्क में अवश्य आती हैं और जो प्रवृत्ति शक्तिशाली होती है, वह साहित्यकार के दृष्टिकोण में किसी न किसी प्रकार परिवर्तन अवश्य लाती है । आज के युग की असुविधाओं ने ही तो प्रगतिशीलता अथवा प्रयोगवादिता को जन्म दिया है और आज का कवि विपन्नता में कहता है—‘जी हाँ, हुआ, मैं गीत बेचता हूँ ।’

हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में भी युग का प्रभाव कवियों की रचनाओं पर देखा जा सकता है । भक्तिकाल का आरंभ संवत् १३७५ से हुआ और उसका विस्तार संवत् १७४० तक रहा । किसी काल के साहित्य-सृजन में जिन शक्तियों का हाथ रहता है, वे सभी किसी न किसी रूप में उस काल विशेष के साहित्य से संबंधित रहती हैं । ये सीधे साहित्य से संबंधित हों ऐसा नहीं कहा जा सकता । परन्तु वे उस काल विशेष के वातावरण को इस प्रकार निर्मित करती हैं, जिससे साहित्य प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । इस विषय में राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य का सामूहिक प्रभाव हमारे

भक्तिकाल के विकास पर इस प्रकार हुआ कि किसी एक को छोड़ देने अथवा किसी एक को अधिक महत्व प्रदान करने से हमारे सामने विकास का रूप स्पष्ट नहीं होगा। इनका अलग-अलग वर्णन करना आवश्यक होगा।

राजनीति—चारण काल के कवियों की मनोवृत्ति किसी अंश में इस काल के कवियों में भी रही। स्वतंत्र शासकों की वीरता और स्वाधीनता की भावना काव्य की सामग्री बनी। इसके अतिरिक्त उनकी शृंगारप्रियता ने कवियों को अंतःपुर के जीवन की चित्रशाला उपस्थित करने की प्रेरणा प्रदान की। यह शृंगार की शृंखला गुप्त-कालीन वैभव के विकृत भग्नावशेष के रूप में समझी जा सकती है। विद्यापति की पदावली में राजा शिवसिंह और लाखिमा देवी की शृंगार भावना को संतुष्ट करने के लिए ही राधाकृष्ण की क्रीड़ा अत्यन्त शृंगारिकता के साथ उपस्थित की गई।

दूसरी बात यह भी है कि भारतीय जनता सदा से राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति उदासीन रही और उसमें धार्मिक चेतना ही अधिक प्रभावशील रही है। भारतीय जन-समाज का इतिहास जितना धार्मिक और दार्शनिक विकास से सम्बंधित है, उतना ही वह राजनीतिक क्षेत्र से अलग भी; क्योंकि केन्द्रीय सत्ताओं के परिवर्तन से प्रान्तीय अथवा स्थानीय सत्ताओं में अधिक परिवर्तन नहीं होते थे। प्रजा और राजा का सम्बन्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से उतना अधिक नहीं था, जितना धार्मिक दृष्टिकोण से प्रजा अपने राजा के धार्मिक गुणों पर अधिक ध्यान देती थी। राजनीतिक संबंधों की दृष्टि से प्रजा अन्य क्षेत्रों में राजा से बहुत दूर थी। राजकर्मचारियों से कर-प्राप्ति की सीमा तक ही उसका संबंध समझना चाहिये। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास की राजधानी फतहपुर सीकरी जाना पड़ा। वहाँ उनका

बड़ा सम्मान तो हुआ पर वे इससे बड़े दुःखी रहे । इस पद में उन्होंने कहा :—

संतन को कहा सीकरी-सों काम ।

आवत जात पनहियाँ दूटीं,

बिसरि गयो हरि नाम ।

जिनको मुख देखे दुख उपजत,

तिनको करबे परी सलाम

कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु

और सबै बेकाम ॥

महाकवि तुलसीदास जी ने भो राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण अपने व्यापक दृष्टिकोण से अवश्य किया ।

धार्मिक—भक्ति साहित्य के इस जनव्यापी आन्दोलन में, जिसकी उत्ताल तरंगों से हिन्दी-साहित्य आलोकित है, सबसे महत्वपूर्ण कार्य धार्मिक स्थिति ने किया । दर्शन का संबंध तो धर्म के चिंतन से है, इस कारण जनसमाज उसके प्रति अधिक सचेष्ट नहीं रह सकता । परन्तु धर्म के कर्मकाण्ड और भक्तिपक्ष से जनसाधारण का बहुत निकट संबंध है । कर्मकाण्ड और भक्तिपक्ष के कारण बहुत सी ऐसी बातें भी आ मिलीं जिनका प्रयोग केवल आडम्बर और बाहरी दिखावे सा था । इधर अनेक शताब्दियों में अनेक जातियाँ आ-आकर हिन्दू धर्म में मिल चुकी थीं । अतः उनके द्वारा भी कर्मकाण्ड और आचार में इतनी बातें आ गई थी जिनकी व्यवस्था प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में नहीं थी । इन समस्त विभ्रंखलताओं के नियमन और व्यवस्था की आवश्यकता थी । इसीलिए धर्म के दंभ और आडम्बर को दूर करने के लिए कबीर को अपना स्वर तीव्र करना पड़ा ।

सामाजिक—बौद्ध धर्म की विजय के उपरान्त भी जनसाधारण में उसकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी । वैदिक वर्णाश्रम-

व्यवस्था को समाज ठीक ढंग से ग्रहण नहीं कर सका। समाज के मेरुदंड समझे जाने वाले ब्राह्मण न तो स्वयं ही इतने शक्तिशाली थे कि वे समाज के विभिन्न अंगों को समुचित रूप में संचालित कर सकते थे और न राजसत्ता ही उनके इंगित पर चल सकती थी। परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार धार्मिक मतमतान्तरों में घोर उच्छृङ्खलता बढ़ गई उसी प्रकार समाज की व्यवस्था भी जनरुचि की सुविधा पर चलने लगी। वर्ण-व्यवस्था की शृंखला टूट गई थी; परन्तु वह अपने बाहरी रूप में अधिकाधिक विषमता उपस्थित कर रही थी। अनेकानेक जातियाँ और उपजातियाँ बन गईं थीं और उनमें परस्पर बड़ा भेद बढ़ गया था। नीच-ऊँच का भाव चरम सीमा तक पहुँच चुका था और समाज में स्त्रियों का स्थान निम्न हो गया था। इस सम्बंध में तुलसीदास ने विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर भक्त कवियों के जीवन में जो युग-प्रभाव लक्षित हुए उन्हें देखियेगा :—

राजनीति :—शैव कवि विद्यापति ने राजाओं की शृंगार-प्रियता की परम्परा में राधाकृष्ण के मिलन के अनेक चित्र खींचे, साथ ही साथ शृंगार के समस्त उद्दीपन भी उन्होंने एक स्थान पर एकत्रित कर दिए—

सरस बसंत समय भल पाओलि
दछिन पवन बहु धीरे ।
सपनहु रूप बचन टाक भाविय,
मुख से दूर कस चरि ॥
तोहर वदन सम चांद हो अथि नहिं
जे यो जतन विह देला ।
के बेरि काटि बनावल नव कंप
ते यो तुलित नहिं भेला ।

लोचन तूअ कमल नहिं भेसक
 से जगके नहिं जाने ।
 से फिर जाय लुके नइ जलमय
 पंकज निज अपमाने ॥
 भनहि विद्यापति सुनवर जीवति
 ई सम लङ्गमि समाने
 राजा सिवसिंह रूपनरायण
 लखिया देह प्रतिभा ने ॥

शोभा और सौंदर्य की परिपाटियों के आधार पर कवि ने राजा और रानी की सौंदर्योपासना का आकर्षक चित्र उपस्थित किया है ।

संत कबीर ने भी अपने समय में राजनीतिक अत्याचारों को दृष्टि में रखते हुए सिकन्दर लोदी की असहिष्णुता पर प्रकाश डाला—

गंग गुसाइनि गहिरि गंभीर ।
 जंजीर बाँधि कर खरे कबीर ॥
 मनु न डिगै तनु काहे कउ डराई ।
 चरन कमल चितु रहिओ समायी ॥
 गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर ।
 प्रिय छाला पर बैठे कबीर ॥
 कहि कबीर कोउ संग न साथ ।
 जल थल राखन है रघुनाथ ॥

इसी प्रकार 'भुजा बाँधि मिला करि डारिओ । हसती कोपि मूँह माई मारिओ' का प्रसंग है ।

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण गोस्वामी तुलसीदास ने दोहावली में स्पष्ट रूप से किया है :—

गोंड गँवार नृपाल महि,
 यवन महा महिपाल ।

साम न दाम न भेद कलि,
केवल दंड कराल ॥

‘कवितावली’ में वे कहते हैं :—

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की ।
वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप गये,
साधु सीरमानजानि रीति पाप मीन की ।

‘विनयपत्रिका में’ तुलसीदासजी ने लिखा है :—

राजसमाज समाज कोटि कटु
कल्प-कल्प कलुष कुचाल नयी है
नीति प्रतीति प्रीति परिमति
रति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥

मीरा ने भी अपने जीवन में घटित होने वाले राजनीतिक प्रसंगों का उल्लेख किया है, यद्यपि इनका संबंध इनके पारिवारिक जीवन से ही था । वे लिखती हैं :—

राजा बरजै राणों बरजै
सब बरजै परिवारी ।
कुँवर पाटवीसो भी बरजै
और सेहल्या सारी ॥

तथा—

साँप पिटारो राणा जी भेज्यो
दयो मेड़तणी गलढार
हँस-हँस मीरा कंठ लगायो
यो तो म्हारै नौसर हार ।
विष को प्यालो राणा जी भेज्यो
या मेंढतनी ने प्याय ।

कर चरणामृत पी गयी रे

गुण गोविन्दरा गाय ॥

धार्मिक संत कबीर ने अपने समय के दंभी और आडम्बर फैलाने वाले बनारस के साधुओं का व्यंग्यपूर्ण वर्णन निम्नलिखित पद में किया है :—

गज साढ़े तै तै चातीआ
तिहरे पाहनि तग ।

सली जिन्दा जप मालीआ,
लोटे रथि निवग ॥

ओह हरि के संत न आई
आई, बनारसि के ठग ॥

ऐसे संत न मोकड मावहि ।

डाला सिउ पेडा गरकावहि ॥

महात्मा सूरदास ने अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य की स्तुति इस प्रकार की—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो

श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु

सब जग माँझ अँधेरो ॥

महाकवि तुलसीदास ने अपने समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है :—

आस्रम बरन धरम विरहित जग

लोकवेद मरजाद गयी है ।

प्रजा पतित पाखंड पाप

रत अपने अपने रंग रँगी है ॥

भौंति सत्य सुभ रीति गयी-

घटि, बदी कुरीति कपट कलई है ।

सीदत साधु साधुता सो बिधि,
 खल विलसत दुखसति खलई है
 परमारथ स्वारथसाधन भये;
 अफल-सफल, नहिं सिद्धि सई है !
 कामधेनु धरनी कलि गोबर
 बिवस विकल जायति नबई है ॥
 मीरां ने भी अपने गुरु रैदास का निर्देश किया है :—
 गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी ।

अथवा

रैदास सन्त मिले मोहि
 सतगुरु दीन्ही सुरत सह दानी ॥
 इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने पूर्व भक्तों का भी निर्देश
 किया है :—

धनी भगत पीपा पुन सबरी
 मीरा की हू करो गनना ।

अथवा

दास कबीर घर बालद जो लाया
 नामदेव की छानद छन्द
 दास धना को खेल निपजाओ
 गज की टेर सुनन्द ॥

इसके बाद सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख देखिये । कबीर
 ने समाज में हिन्दू मुसलमानों के परस्पर भेद और वैमनस्य पर
 घोर प्रहार किया । वे कहते हैं :—

अलहु एक मसीत बसतु है
 अवरु मुखक किसु केरा
 हिन्दु मूरति नाम निवासी
 दुइ भहि ततु न हेरा ॥

अलह राम जीवह तेरे नाई ।
 तू करि मिहरामति साई ॥
 दखन देस हरी का बासा
 पछिमि अलह मुकामा ।
 दिल महि खोजि दिलै महि खोजहुँ
 ऐसा ठउर मुकामा ॥

तुलसीदास जी ने भा तत्कालीन समाज का चित्रण इस प्रकार किया है :—

वादहिं सूद्र द्विजन सन,
 हम तुम तें कह्यु घाटि ।
 जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर
 अँखि देखावहिं डौँटि ॥

और “कवितावली” में कहत हैं :—

बबुर बरेरे को बनाया बाग लाइयत,
 रूँ धवे को सोई सुरतरु काटियत हैं ।
 गारि देह बीच हरिचन्द्र हूँ दधीचहू को ;
 आपने चना चबाई हाथ चाटियत है ॥

इस प्रकार हमारे भक्त कवियों की रचनाओं में युग प्रभाव लक्षित होते हैं, यद्यपि इन प्रभावों से उनका विश्वजनीन काव्य प्रभाव किसी प्रकार कम नहीं होता ।



कलाकार तुलसीदास

यह राम बोला है, माता-पिता से विहीन ! दरवाज़े दरवाज़े घूमकर अपना पेट भरने वाले जिन्होंने 'जाति के कुजाति सुजाति' के टुकड़े खाए और चार चनों को ही चार पदार्थ समझा। वे समाज के द्वारा तिजारी के टोटके के समान फँके गए और उनकी ओर किसी ने पलटकर भी नहीं देखा। अन्त में उन पर एक साधु महात्मा को दया आई। उन्होंने राम बोला को अपने पास रखकर उसे शिक्षा दी। काव्य, व्याकरण और साहित्य में शिक्षा देकर उन्हें राम-भक्ति में दीक्षित किया और उनका नाम राम बोला से बदलकर तुलसीदास रखा, जिन्होंने आगे चलकर रामचरित-मानस जैसे ग्रंथ की रचना की। ई० सन् १५३२ में जन्म लेकर उन्होंने राजापुर ग्राम को पवित्र किया था और वहाँ से जो सूर्योदय हुआ उसकी किरणों ने देश देश के साहित्य में प्रकाश फैलाया और अवधी और ब्रजभाषा को संसार की भाषाओं में अमर कर दिया।

तुलसीदास एक महान सन्त थे। उनके राम संसार के कर्त्ता होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को नचाने वाले हैं। उन्हीं के आदेश से संसार की उत्पत्ति, पोषण और संहार होता है। वे संसार के कण-कण में वर्तमान हैं। ऐसे राम उनके आराध्य हैं। इस भक्ति-भावना में लीन होकर ही तुलसीदास ने अपनी काव्य-रचना की। उन्होंने

तेरह प्रमुख ग्रंथ लिखे जिनमें रामचरित मानस, विनय-पत्रिका, कविता-वली और गीतावली प्रमुख हैं। इन ग्रंथों में एकमात्र राम की कथा है यद्यपि वह भिन्न भिन्न शैलियों में लिखी गई है। किसी में ब्रजभाषा है, तो किसी में अवधी, किसी में दोहा चौपाई है, तो किसी में पद, कवित्त या सवैया। तुलसीदास ने संसार के व्यक्तियों पर रचना नहीं की, यद्यपि उन्होंने मनुष्य जीवन की पूरी विवेचना की है।

तुलसीदास यद्यपि एक महात्मा थे, संत थे, राम-भक्ति में सदैव लीन रहने वाले थे तथापि वे एक महाकवि भी थे। मानव-जीवन के भीतर तक पहुँचनेवाली उनकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि उन्होंने भक्ति के साथ ही साधु जीवन की कला इतने सुन्दर ढंग से उपस्थित की है कि हिन्दी-साहित्य का कोई भी कवि उनकी समानता नहीं कर सकता। वे एक ऊँचे कलाकार हैं। उन्होंने कभी इस बात की कोशिश नहीं की कि वे अपनी रचनाओं को काव्य के सौन्दर्य से विभूषित करें। अलंकार और रस लाने की चेष्टा उनकी काव्य-रचना में कहीं भी नहीं देखी जाती; किन्तु भाषा और भावों पर उनका इतना अधिकार है कि साहित्य की कला उनकी भक्ति के पीछे इस प्रकार चलती है जैसे किसी महापुरुष के पीछे उसकी कीर्ति चलती है। वे हिन्दी के एक बहुत बड़े कलाकार हैं। तुलसी की कला के सम्बन्ध में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने एक छन्द इस प्रकार लिखा है :—

‘कविता करके तुलसी मिलसे कविता लसी पा तुलसी की कला’

सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि कला से क्या तात्पर्य है। मेरे विचार से कला का तात्पर्य घटनाओं, वस्तुओं और भावनाओं में छिपे हुए सौन्दर्य को इस रूप से स्पष्ट कर देना है, जिससे मन में सात्विक भावों का उदय हो। असुन्दर से सुन्दर की कल्पना, अरूप में रूप की स्थापना और विषमता में समता की प्रतिष्ठा कला का मुख्य गुण है। तुलसीदास सात्विक भावनाओं से ओत-प्रोत थे और वे

सारे संसार को 'सिया-राम-मय' देखते थे, इसलिए उनके लिए कला का निर्माण बहुत स्वाभाविक और सहज था ।

जब कला का प्रवेश साहित्य में होता है तो उसके दो रूप हो जाते हैं : एक भावनामय और दूसरा भाषामय । भावना का रूप परिस्थिति को खूबसूरती के साथ उभारने में है और भाषा का रूप शब्द-योजना और ललित-पदावली में है । इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं और हमें यही देखना है कि तुलसीदास ने किस प्रकार अपने को सफल कलाकार के रूप में उपस्थित किया है । सबसे पहले वह चित्र देखिए जहाँ तुलसीदास ने मानव-जीवन के आन्तरिक चित्रों को कलाकार के रूप में उपस्थित किया है । राम-चरित मानस में धनुष-भंग का प्रसंग लीजिए । श्री राम धनुष तोड़ने जा रहे हैं वे सुकुमार हैं । किशोर हैं, न जाने वे धनुष तोड़ सकेंगे या नहीं । इस समय समस्त जनकपुर निवासियों के हृदय की दशा अत्यन्त कौतूहल-जनक है । जनक को स्वयं बड़ा संकोच है कि अपनी कठिन प्रतिज्ञा के सामने वे राम व लक्ष्मण जैसे बालकों को कहीं राज-सभा में अपमानित होने का अवसर उपस्थित न करें और सीता जो राम को पुष्प-वाटिका में देखकर उन पर अनुरक्त हो उठी हैं किन भावों में आन्दोलित हो रही हैं इसका अनुमान करना बहुत कठिन है । किन्तु कलाकार तुलसीदास सीता के हृदय में प्रवेश कर जैसे प्रत्येक बात का अनुभव कर रहे हैं । वे सीता के मनोविज्ञान का इतना सुन्दर रूप उपस्थित करते हैं कि वह संसार के किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हो सकता है । सीता जी कभी राम की ओर देखती हैं कभी पृथ्वी की ओर । वे राम की ओर देखकर अपने मनही मन इस देवता से विनय करती हैं कभी उस देवता से, कभी महेश से, कभी भवानी से, कभी गणेश से और कभी देवताओं से कि वे अभी तक जानकी के द्वारा की हुई सेवा को सफल करें, धनुष के बोक को हल्का करें जिससे कि राम धनुष उठा सकें । बार

बार श्री राम की ओर देखकर उन्हें रोमांच हो आता है। उसी समय राम को देखते हुए उन्हें अपने पिता के प्रण का स्मरण हो आता है जिन्होंने बिना लाभ और हानि पर विचार किए हुए इतनी कठिन हठ ठान रखा है। मंत्री लोग भी डर कर उचित सलाह नहीं देते कि इतने कठोर धनुष ये श्यामल किशोर किस प्रकार उठा सकेंगे कहीं सिरस फूल से भी हीरा वेधा जा सकता है। इसलिए वे बार-बार धनुष से ही प्रार्थना करती है कि वह हल्का हो जाय जिससे कि श्री राम उसे उठाकर जनक के प्रण का निर्वाह कर सीता से विवाह कर सकें। इस सुन्दर स्थिति का चित्र तुलसीदास ने अपनी कुशल लेखनी से अत्यन्त कलात्मक ढंग से उपस्थित किया है। वे लिखते हैं

“प्रभुहि चितै पुनि चित महि, राजत लोचन लोल ।

खेलत मनसिज मीन युग, जनु विधु मण्डल डोल ।

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी ।

प्रगट न लाज निशा अवलोकी ॥

लोचन जल रहु लोचन कोना ।

जैस परम कृपन कर सोना ॥

प्रभु रामचन्द्र को देखकर दूसरे ही क्षण पृथ्वी की ओर देखने लगती है इस संकोच से कि उनकी कोई सखी उन्हें राम की ओर अनुराग भरी चितवन से देखते हुए देख न ले। किन्तु उनका हृदय बार-बार उन्हें राम की ओर देखने को प्रेरित करता है। इस प्रकार राम की दिशा और पृथ्वी की दिशा में उनके नेत्रों की गति एक विशेष सौन्दर्य उत्पन्न कर रही है जैसे चन्द्र मण्डल में दो मछलियाँ डोलती हुई क्रीड़ा कर रही हों। मुख कमल ने वाणी रूपी भ्रमरों को रोक लिया क्योंकि लाज-रूपी रात आ गई थी। आँखों का जल आँखों के कोनों में ही रह गया था जिस प्रकार किसी कंजूस का सोना उसके कोशिश करने पर भी उसकी गाँठ से नहीं खुलता और वहीं पड़ा रह जाता है। राम के प्रति प्रेम से आकर्षित होकर आँखों का जल जिस

आकांक्षा के साथ रुका हुआ है, वह किसी कंजूस के धन संचित करने की अभिलाषा से कम नहीं है। जीवन की यह सच्ची अनुभूति कितने कलात्मक ढंग से कवि ने यहाँ उपस्थित की है !

‘विनय पत्रिका’ में एक पद है। तुलसीदास राम-भक्ति प्राप्त करने के लिए श्री सीता जी से प्रार्थना कर रहे हैं। इस पद में तुलसीदास ने हृदय के मनोवेगों का विश्लेषण बड़ी प्रवीणता के साथ किया है। वह पद इस प्रकार है :—

“कबहुँ को अम्ब अवसर पाइ ।
मेरी औ सुधि यावबी कछु करुण कथा चलाइ ।
दीन सब अंग लीन छीन मलीन अधी अघाइ ।
नाम लै लै भरै उदर एक प्रभु दासी-दास कहाइ ।
बूझिहैं सो है कौन कहिवी नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगिरिऔ बनि जाइ ।
जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ ।
तरेँ तुलसीदास भव तब नाथ गुन गन गाइ ।”

हे माता ! कभी अवसर पाकर कुछ करुणा की चर्चा चलाकर श्री राम को मेरा स्मरण दिला देना। वह स्मरण इस प्रकार हो कि एक पापी आप की दासी का दास कहलाकर अपना उदर पोषण कर रहा है। यहाँ तुलसीदास ने उस अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है जिसमें लोग खुशामद कर अपना काम पूरा कर लेते हैं। ‘दासी-दास कहाय’ इसका स्पष्ट उदाहरण है। जिस समय श्री रामजी पूछेंगे कि वह कौन है तब आप मेरा नाम और मेरी दशा का विवरण सुना दें। कृपालु रामचन्द्र जी के सुनते ही मेरी बिगड़ी हुई दशा सुधर जायगी। आपको मेरी सिफारिश करने में कोई कष्ट न होगा। हे संसार की माता जानकी ! केवल वचन मात्र दे देने से यह तुलसीदास तुम्हारे ही स्वामी का गुण गाकर इस संसार से उद्धार पा सकता है।

अपना काम पूरा करने वाले किसी व्यवहार कुशल व्यक्ति की तरह तुलसीदास की यह प्रार्थना कितनी सजीव और मनोवैज्ञानिक है।

‘कवितावली’ में तुलसी दास ने हास्य रस का जैसा प्रयोग किया है वह उनके सजीव हृदय का प्रमाण अच्छी तरह से देता है। उसमें तुलसी दास ने ऐसे साधुओं का मजाक उड़ाया है जो संयम के बिना ही तप में लीन होना चाहते हैं, अथवा, जिन्होंने अपने इन्द्रियों को तो वश में नहीं किया पर वृद्धावस्था के कारण तप करने चले आए हैं। राम के चरणों के स्पर्श कर पत्थर भी सुन्दर स्त्री का रूप ले लेता है, वह अहल्या के उद्धार से सर्व विदित है। इसी घटना का आधार लेकर तुलसी दास ने ऐसे इन्द्रिय लोलुप साधुओं की खबर ली है। अरण्य-काण्ड में जब कुछ मुनियों ने राम का बन आगमन सुना तो उनके हृदय में यही भावना उठी कि अब कोई चिन्ता की बात नहीं रही। प्रत्येक साधु एक एक पत्थर का टुकड़ा श्री राम के चरणों से स्पर्श कराकर चन्द्रमुखी स्त्री के रूप में परिवर्तित कर लेगा और सब चिन्ताएँ दूर हो जायेंगी। इस बात को तुलसी दास कविता-वली के अरण्य काण्ड में बड़े सुन्दर ढंग से लिखते हैं :—

विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।

गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुन भै मुनि वृन्द सुखारे ।

ह्वै है सिला सब चन्द्र मुखी परसे पद मंजुलकंज तिहारे ।

कीन्हीं भली रघुनायक जू करुनाकर कानन को पगु धारे ।

अर्थ बहुत सरल है। आलोचना की आवश्यकता नहीं है। यहाँ हास्य को एक कलात्मक रूप देकर तुलसी दास ने अपनी विनोद-प्रियता का परिचय दिया है।

हास्य के साथ ही साथ करुणा का भी एक चित्र लीजिए। श्री राम को वन गए बहुत दिन हो गए। माता कौशल्या राम के लौटने की प्रतीक्षा प्रति दिन करती हैं। वे चाहती हैं कि राम किसी भाँति किसी बहाने अयोध्या को लौट आएँ। वे पथिक के हाथ एक संदेश

भेजती हैं जो तुलसीदास ने गीतावली के अयोध्या काण्ड में इस संबंध में एक सुंदर पद लिखा है:—

‘राघव एक बार फिरि आओ ।

ये वर बाजि विलोकि आपने बहुरो वनहि सिधाओ ।

अपने कर पय प्याइ पोखि कर पंकज बार चुचुकारे ।

क्यों जीवहि मेरे राम लाड़िले ते अब निपट बिसारे ।

भरत सौगुनी सार कहत है अतिप्रिय जानि तिहारे ।

तदपि दिनहि दिन होत ऋँवरे मनहु कमल हिम मारे ।

सुनहु पथिक बन राम मिलहि जो कहियो मातु सँदेसो ।

तुलसी मोहिँ और सबहिन सो उनको बड़ो अँदेसो ।

राम के प्यारे घोड़ों की राम के वियोग में अत्यन्त दुर्दशा का चित्र खींचते हुए कौशल्या घोड़ों को एक बार देख जाने के लिए राम के पास पथिक के हाथ यह सन्देश भेजती हैं । राम के वियोग में घोड़े जी सकेंगे या नहीं, इसका बहुत बड़ा अंदेशा कौशल्या को है । कितनी सरलता से हृदय की गहरी अनुभूति महाकवि ने यहाँ पर उपस्थित की है ! कला का यह रूप भावना-मय है । अब भाषा-मय रूप के भी कुछ चित्र देखिए ।

किसी भी घटना या वस्तु-स्थिति का चित्र उपस्थित करने में तुलसी दास ऐसी पदावली का प्रयोग करते हैं कि चित्र सा सामने आ जाता है ।

‘विकसे सरनि बहु कंज गुंजन कुंज मंजुल मधुकरा’ में भ्रमर के गुँजने की आवाज़ कितनी स्पष्ट ज्ञात होती है । इसी प्रकार ‘घन घमण्ड नभ गरजत घोरा’ में बादलों के गजरने की ध्वनि स्पष्ट सुन पड़ती है । इसी प्रकार :—

भए क्रुद्ध युद्ध विरुद्ध रघुपति भोन सायक कसमसे ।

कोदण्ड धुनि अति चण्ड सुनि मनु जार सब मारुत ग्रेस ।

मंदोदरी उर कंप कम्पत कमठ भू भूधर त्रसे ।

चिक्करहि दिगज दसनि गहि महि देखि कौतुक सुर हसे ।

इन पंक्तियों में युद्ध की विकरालता आप से आप स्पष्ट हो जाती है । इस प्रकार तुलसीदास ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने भाषा और भाषा में कला रूप अत्यन्त कुशलता के साथ उपस्थित किया है, यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई प्रबल नहीं किया । कला के ये चमत्कार उनकी कविता में आप से आप आ गए हैं जिस प्रकार फूल के विकास के साथ ही साथ उसकी सुगंध फैल जाती है । तुलसी दास के कला मय रूप की इससे अधिक और क्या व्याख्या हो सकती है ।



आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि

राजनैतिक स्थिति—अंगरेजी साम्राज्य की स्थापना का भारत-वर्ष में अत्यधिक महत्व है। हमारी समस्त मान्यताओं को एक धक्का लगा, नई-नई आविष्कृत वस्तुएँ सामने आईं और नये-नये विचार विदेशी व्यक्तियों और ग्रंथों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुए। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के पूर्व ही अंग्रेजों का प्रभुत्व भारत पर स्थापित हो गया था। कहने के लिए तो अन्य राजा-महाराजा भी थे, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में अंगरेजों का एक-छत्र अधिकार था। कम्पनी का गवर्नर-जनरल मुगल-सम्राट् को कैद कर सकता था उसे गद्दी से उतार सकता था, जिसे चाहे, उसे अधिकार-वञ्चित कर सकता था। यद्यपि बाहरी दिखावे के लिए उनके प्रयत्नों से शिक्षा और सभ्यता का विकास हो रहा था। भारतीयों के अन्धविश्वास को दूर करने के लिए ईसाई-धर्म-प्रचारक अपने उपदेश देते फिरते थे, हिन्दी और उर्दू में अपने धर्म-ग्रंथों का अनुवाद कर उन्हें जन-साधारण के सुलभ कर रहे थे। भले ही इसमें उनका स्वार्थ हो, पर उससे हिन्दी का उपकार नहीं हुआ।

अंगरेज जाति के सम्पर्क में आने से हमें लाभ भी हुआ है। ईसाई धर्म के प्रचारक १८०० ई० के पूर्व ही जन-साधारण का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। उनकी दृढ़ता और कार्य प्रियता

का उदाहरण सामने रख कर ही राजा राममोहन राय ब्रह्म-समाज और स्वामी दयानन्द जी आर्य समाज का प्रचार-कार्य करने में समर्थ हुए। हमारे अंधविश्वासों की जड़े हिलीं। समाज-सुधार का कार्य प्रारम्भ हुआ, हमने अपने शासक वर्ग की सामाजिक-व्यवस्था से कुछ सीखना चाहा, विधवाओं की दशा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि को रोकने की प्रेरणा हमें अँगरेजों से मिली। कैसी भी हो, किन्तु थी तो वह विदेशियों द्वारा दी गई। शिक्षा के आधार पर ही हम अपनी बुराइयों को समझने में समर्थ हो सके, समाज की कुरीतियों और दुर्बलताओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया।

आर्थिक-स्थिति और समाज—उन्नीसवीं शताब्दी तक अँगरेजों ने भारतवर्ष पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया था। उनके पूर्व मुसलमानों की स्थिति तो अच्छी थी, किन्तु सामान्य जनता त्रस्त थी। कम्पनी के शासन काल से ही हिन्दू सम्पन्न होने लगे थे। व्यापारियों की स्थिति सुधरने लगी और वे अँगरेजों को अपना सहायक समझने लगे। ग़दर या स्वतंत्रता-संग्राम में अधिकांश हिन्दू व्यापारियों और ज़मींदारों ने इसी कारण अँगरेजों का साथ दिया था और भारतेन्दु के समकालीन कवियों ने अँगरेजी-राज्य की प्रशंसा की। वे विदेशी-शासन के दोषों को समझते थे, किन्तु मुसलमानों के पाश से मुक्ति पाने के उपरान्त उन्हें ब्रिटिश-शासन भी स्वर्ग-तुल्य लगता था, उस शासन में न तो गुण्डों का डर था, और न मुसलमानों की हिंसक वृत्ति का^१। जो सुख-सुविधा की सामग्री उन्हें

१—‘प्रेमघन’ ने ‘मानसोपायन’ में विक्टोरिया की स्तुति करत हुए कहा है :—

जासु राज में यमन सब, बोलत सीधो बैन।

जे नित छूरी टेवते, अब प्रीवा उभरै न॥

×

×

×

अँगरेजों की कृपा से प्राप्त हुई थी, उसकी समानता तो देवता भी न कर सकते थे^२ । नगर-नगर में विद्यालय खुल गये थे, जिनसे देश-विदेश का ज्ञान प्राप्त होता था^३ । इन बातों की वे उपेक्षा न कर सके । क्योंकि अधिकांश कवि मध्य वर्ग या व्यापारी वर्ग के थे,

जे झाँ की युवती लखत, लेत ऐँठ कर मुँछ ।
 ते अब नजर बचावते, जात दबाये पूँछ ॥
 २. धूआँकस तोपैँ, घड़ी, रेल, तार, सुविसेलि ।
 विसुकर्मा बौरे भए, किलन, पुलन अवरेलि ॥

×

×

×

शारद, शुक्र, गजाननहु, सेसहु सभय विसेलि ।
 काबिज, युनिवरसिटियन, इस्कूलन अवरेलि ॥
 छोट करेन्सी प्रमसिरी, टिकट स्टाम्प के डेर ।
 पेलि चरित्र रु देखि यह, सोचत खरे कुबेर ॥
 अत्यागमन जहाज को, सिन्धु मौँहि लखि निच ।
 त्याग भवन भजिबो चाहत, बरुण ससंकित चित्त ॥

—मानसोपायान पृष्ठ २-३

३. 'हार्दिक, हर्षादर्श' में श्री 'प्रेमघन' ने पिछालियों के बारे में लिखा है—

बने विश्वविद्यालय, विद्यालय, पाठालय ।
 पावत प्रजा अलभ्य लाभ, जिनतें बिन संसय ॥
 श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'मन की उमंग' में कहा—
 जंगल काटि, काटि के केते, नगर बजार बनाए ।
 नहर निकारि, नदी और नद पै, भारी संतु बनाए ॥
 गाँव-गाँव विद्यालय करि के, बहुत विवेक बढ़ायो ।
 यान चलाय रेल को तापै मानो नगर उढ़ायो ॥

और इन दोनों वर्गों की सहानुभूति अँगरेजों के साथ ही थी। मध्य-वर्ग तो उन्हीं के कारण स्थिति में आया था।

इस विवेचन से यह समझना भूल होगी कि भारत के लोग ब्रिटिश शासकों के खुशामदी चापलूस थे। 'प्रेमघन' जैसे उदार वृत्ति के कवियों ने भी अपनी कठिनाइयों का वर्णन किया है, अँगरेजी-शिक्षा से जहाँ एक ओर ज्ञान-विज्ञान के अपरिचित क्षेत्र हमारे सामने उन्मुक्त हुए थे, वहाँ उसके दोष भी थे। हिन्दू-धर्म की विशेषताओं को अर्द्ध-शिक्षित लोग भुला बैठे थे। डार्विन, मिल और शैली ही उन्हें भाते थे। फैशन का भूत सवार होने के कारण भारतीय परम्पराओं वे को भूल से गये।* भारत का सारा धन विदेश चला जाता था, जिससे निर्धनता की वृद्धि होने लगी। इन सब बातों की ओर जनता और उसके प्रतिनिधि कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था और उन्होंने इस विषय पर रचनाएँ भी की हैं।

* बालमुकुन्द गुप्त ने 'रामभरोसा, पृ० ११ में इस बात की ओर संकेत किया है—

पै हमरे नहिं धर्म कर्म कुल कानि बढ़ाई ।

हम प्रभु लाज समाज आज सब धोय बहाई ॥

मेटे वेद-पुरान न्याय निष्ठा सब खोई ।

हिन्दू-कुल-मरजाद, आज हम सबहि डुबोई ॥

‘सब जाय’ में भी उन्होंने कहा है—

‘तन्त्र पुराण मन्त्र षट् दर्शन वेद खवेद सिधारे ।

गीता में लग गया पत्नीता, कर्म धर्म फक मारे ॥

रहे डार्विन, मिल, शैली, लड़कों की रही पढ़ाई ।

और रही लड़की की शादी, जोरू संग लगाई ॥

रही सबी दुगन्ध डूने की और दूध में पानी ।

चेचक हैजा और मलेरिया और पल्लेग निशानी ॥

प्रताप नारायण मिश्र जैसे उग्र-विचारक भी सुविधाओं की उपेक्षा न कर सके, दोषों की ओर उन्होंने भी संकेत किया ।

समाज में यदि अराजकता न थी, तो तीव्र असंतोष तो था ही । संघर्ष की जो भावना सन् १८५७ के विद्रोह के उपरान्त भारतवासियों के मन में थी, उसमें हिंसात्मक वृत्ति का समावेश न था । वे अपने अधिकार चाहते थे, अनुरोध करने के माध्यम से उनको प्राप्त करना चाहते थे, उसके लिए किसी युद्ध की इच्छा उनके मन में न थी । देश भक्ति की भावना के साथ राज-भक्ति की भी भावना उनमें थी । इसी कारण से उन्होंने प्रिन्स आर्चबिशप का हार्दिक स्वागत भी किया था । अंगरेजों की मनोवृत्ति की तीव्र आलोचना करते हुए भी, वे उनके गुणों का आदर करते थे ।*

* प्रताप नारायण मिश्र ने 'लोकोक्ति-शतक' में लिखा है—
सर्वसु खिए जात अंगरेज । हम केवल हथकपूर के तेज ।
श्रम बिन बातें का करती हैं । कहूँ टेंटकन गाजें दरती हैं ॥

भारतेन्दु ने भी कहा—

भीतर भीतर सब रस चूसै । हँसि हँसि के तन मन-धन मूसै ।
जाहिर बातन में अति तेज । क्यों सखि सज्जन ? नहिं अंगरेज ॥

और

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात रहै अति ख्वारी ॥
ताहु पै महुँगी काज रोग विस्तारी ।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हारी ॥



भारतेन्दु की नाट्य-कला

यह एक संयोग की बात है कि जिस प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार ने हिन्दी गद्य को अत्यंत परिमार्जित और मधुर रूप दिया, उसी ने हिन्दी नाटक साहित्य को प्राचीनता की काव्य-प्रधान सूक्तियों से आगे बढ़ा कर जीवन के नये आदर्शों में प्रतिष्ठित किया। इसीलिए साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी नाटक के जनक हैं। सन् १८५० ईस्वी में जब इनका जन्म हुआ तब ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के संस्कारों के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हो चुकी थी और आन्तरिक संघर्ष की चिनगारियाँ फूट उठने के लिए मार्ग खोजने लगीं थीं। यह विस्फोट सन् १८५७ में हुआ तब भारतेन्दु की बाल्यावस्था के संस्कार बन रहे थे। एक ओर तो प्रथम स्वतंत्रता युद्ध की राष्ट्रीयता और आत्म-सम्मान की पुकार उनके कानों में गूँज रही थी और दूसरी ओर उसी वर्ष उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र के 'नहुष' नाटक की रचना उनकी स्मृति पर अंकित हो रही थी। राष्ट्रीयता और नाटक के सम्मिलित संस्कार भारतेन्दु की प्रतिभा पर इतनी गहराई से पड़े कि भारतेन्दु की रचना राष्ट्रीयता के स्वर लेकर नाटकों के रूप में प्रस्फुटित हो उठी।

इस संस्कार के साथ भारतेन्दु की प्रतिभा में नाटक साहित्य के बीज अंकुरित हुए। प्रभाव पर भी दृष्टि डालिए। संस्कार के साथ

भारतेन्दु पर एक बड़ा ही अनुकूल प्रभाव भी पड़ता रहा। भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द्र बड़े निर्भीक सुधारवादी थे। उन्होंने रूढ़ि और परंपरा का सदैव खंडन किया। उनके सम्बन्ध में स्वयं भारतेन्दु जी ने लिखा है—‘उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णव व्रत पूर्ण पालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिन्दा थी। हम लोगों को अँगरेजी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है।’ अतः परिवार में भारतेन्दु पर नवीनता और प्रगतिशीलता का प्रभाव पड़ रहा था। संवत् १६२२ में १५ वर्ष की अवस्था में भारतेन्दु जी जगदीश यात्रा के लिए गए। इस यात्रा में वे बंगला साहित्य के सम्पर्क में विशेष रूप से आए। बंगला साहित्य में हिन्दी से पहले ही नवीनता आ चुकी थी और उसमें नाटक-रचना हो रही रही थी। बंगदेश में अति प्रसिद्ध ‘विद्या सुन्दर’ की कथा प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने काव्यरूप में निर्मित की थी। इसी काव्य का आधार लेकर महाराज यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने विद्या सुन्दर नाटक की रचना की थी। नवीनता का आग्रह मानते हुए भारतेन्दु बंगला भाषा और नाटक ‘विद्या सुन्दर’ के सम्पर्क में आए और उन्होंने संवत् १६२४ में (जब वे केवल १७ वर्ष के थे) इसी ‘विद्या सुन्दर’ की छाया लेकर ‘विद्या सुन्दर’ नाटक हिन्दी में लिखा। भारतेन्दु की यह प्रथम साहित्य-रचना थी।

इस भाँति अपने संस्कार एवं प्रभाव के कारण भारतेन्दु की

विशेष रचि नाटक रचना की ओर ही रही। इसकी पृष्ठभूमि में राष्ट्रीयता, समाज संस्कार, प्रगतिशीलता और प्रयोगवादिता की प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं। जिनमें उनका नाट्य साहित्य अभिनव क्षेत्रों में विकसित हुआ।

भारतेन्दु के नाटकों का रचना काल संवत् १९२४ से आरम्भ होकर मृत्यु के एक वर्ष पूर्व संवत् १९४१ तक चला। इन सत्रह वर्षों में उन्होंने गद्य को सँवारते हुए एवं साहित्य के अन्य अभावों की पूर्ति करते हुए सत्रह नाटकों की रचना की। इन सत्रह नाटकों में मौलिक रचनाएँ और अनुवाद दोनों ही सम्मिलित हैं। मौलिक रचनाओं में कालक्रमानुसार वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति, (संवत् १९३०) प्रेमयोगिनी (सं० १९३२) विषस्य विषमौषधम् (१९३३) चन्द्रावली नाटिका (सं० १९३३), भारत दुर्दशा (१९३३) नील देवी (सं० १९३७), अंधेरनगरी (सं० १९३८) और सती प्रताप (सं० १९४१) इस प्रकार आठ नाटक हैं। अन्य रचनाओं की छाया पर लिखे गए तीन नाटक हैं। विद्या सुन्दर (बंगला में विद्या सुन्दर की छाया सं० १९२४) सत्य हरिश्चन्द्र (संस्कृत में चडकौशिक की छाया संवत् १९३२), भारत जननी (बंगला में भारत माता की छाया सं० १९३४) इनके अतिरिक्त छः अनुवाद हैं—रत्नावली (संस्कृत सं० १९२५) पाखंड विडंबन (संस्कृत सं० १९२६) धनंजय विजय (संस्कृत सं० १९३०) मुद्राराक्षस (संस्कृत सं० १९३२) कर्पूरमंजरी (प्राकृत सं० १९३३) दुर्लभ बंधु (अंग्रेजी सं० १९३७)

इस नाट्य साहित्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालनी युक्ति-संगत होगी।

यद्यपि भारतेन्दु की शिक्षा व्यवस्थित रूप से नहीं चली तथापि इनकी प्रतिभा इतनी विलक्षण थी कि इन्होंने अपने अध्यवसाय से हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, बंगला और अंग्रेजी पर पूर्ण अधिकार

प्राप्त कर लिया था। संस्कृत, प्राकृत और अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद में उन्होंने भावाभिव्यंजन में इतनी सफलता प्राप्त की कि उनकी अनुवादित रचनाएँ मौलिक सी जान पड़ती हैं। इस अनुवाद की प्रवृत्ति ने उन्हें विविध नाटक शैलियों से परिचित कराया और वे भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्र से पूर्ण परिचित हुए। संवत् १९४० में लिखा हुआ 'नाटक' नामक प्रबन्ध प्रमाणित करता है कि उन्होंने संस्कृत एवं अंग्रेज़ी नाटकों की शिल्पविधि और परंपरा का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर लिया था। संस्कृत, हिन्दी और योरोपीय नाटकों की ऐतिहासिक परंपरा पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है।

संस्कृत के रत्नावली, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय और मुद्राराक्षस नाटकों का अनुवाद उन्होंने किया। 'रत्नावली' नाटिका है, जो श्री हर्ष की रत्नावली का अनुवाद है। 'पाखंड विडंबन' रूपक है जो कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के पाखंड विडंबन नामक तृतीय अंक का अनुवाद है। 'धनंजय विजय' व्यायोग है जो कांचन पंडित द्वारा महाभारत के विराट पर्व की कथा पर आधारित संस्कृत रूपक है और 'मुद्राराक्षस' नाटक है जो विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक का सुन्दर अनुवाद है। प्राकृत में लिखा गया राजशेखर का 'कर्पूरमंजरी' सट्टक है जिसका अनुवाद भारतेन्दु ने इसी नाम से किया। इस प्रकार संस्कृत नाट्यशास्त्र के रूपकों और उपरूपकों के लक्षणों का पूर्ण ज्ञान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को था।

उन्होंने शेक्सपियर के 'मर्चेंट अफ् वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' के नाम से किया। एंटोनियो के चरित्र को ध्यान में रखकर ही इस नाटक का नामकरण हुआ है। अनुवाद में भारतेन्दु जी ने भारतीयता का वातावरण लाने के लिए नामों का सुन्दर अनुवाद कर दिया है। वेनिस-वंशनगर बन गया है और एंटोनियो अनंत, बेसेनियो बसंत, पोरशिया पुरश्री और नेरिसा नरश्री के रूप में हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु में भारतीय और पश्चिमीय नाटकों की शिल्पविधि

अध्ययन, अनुशीलन और अनुभव के आधार पर पूर्ण मात्रा में वर्तमान थी।

इस प्रतिभा संपत्ति को लेकर भारतेन्दु ने नाटक की रचना में जो प्रयोग किये हैं वे उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और युग प्रभाव के पूर्ण परिचायक हैं। भारतेन्दु रूढ़िवादी नहीं थे किन्तु प्राचीन नाट्यशास्त्र में जो बात उन्हें महत्त्व की ज्ञात हुई उसकी रक्षा उन्होंने पूर्ण रूप से की। इस भाँति भारतेन्दु की नाट्यकला की विशेषता इस बात में रही कि उन्होंने अपनी नाट्य-रचना के लिए आधार भूमि तो संस्कृत नाट्यशास्त्र से ली किन्तु युग की माँग और नवीनता के आग्रह से उन्होंने उसका विकास नये ढंग से किया, नई पद्धतियों का समावेश किया और जनता की रुचि का पूर्ण ध्यान रक्खा। नई पद्धतियों के समावेश में जिन बातों की ओर उन्होंने संकेत किया है वे निम्न प्रकार से हैं :—

१. प्राचीन नाटकों की अपेक्षा नवीन नाटकों की मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसलिए एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भाङ्कों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समर्थ में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन गर्भाङ्कों को दृश्य या सीन की संज्ञा दी गई है।

२. नवीन नाटक मुख्यतः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक नाटक, दूसरा गीति रूपक। नाटक में कथा-भाग विशेष और गीति न्यून है। गीतिरूपक जिसे 'आपेरा' कह सकते हैं में गीति विशेष है और कथा-भाग न्यून।

३. नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य पाँच हैं—शृङ्गार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार और देश वत्सलता। यह स्पष्ट है कि समाज संस्कार और देशवत्सलता युग की माँग थी और

भारतेन्दु जी ने अपने साहित्य के द्वारा इन विचारों का तेजस्वी रूप अत्यंत कौशल से अपने नाटकों में प्रस्तुत किया है ।

४. नवीन नाटकों में अस्वाभाविक घटनाओं की सृष्टि अनावश्यक है । भारतेन्दु ने अपने नाटक नामक प्रबन्ध में स्वयं लिखा है कि 'अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्यमंडली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयहारिणी है । इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करने नाटकादि दृश्य काव्य प्रशयन करना उचित नहीं है ।...संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है ।'

५. भारतेन्दु ने नवीन नाटकों में नेपथ्य संगीत (Back Ground music) की भी कल्पना की थी । इसे उन्होंने चर्चरिका नाम दिया है । चर्चरी का अर्थ गीति छन्द का एक रूप है— 'जब-जब एक विषय समाप्त होगा, जयनिका पात करके पात्र गण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब पटापेन्न के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक हैं क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है । जहाँ बहुत स्वर मिल कर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं । इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है । जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजै वह भैरवी आदि सबेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो बजै वह रात के राग की होनी चाहिए ।'

इस भाँति आर्केस्ट्रा या ब्रैकग्राउंड म्यूज़िक की सार्थकता भारतेन्दु ने नवीन नाटकों के निर्माण में संवत् १९४० में ही समझ ली थी ।

६. भारतेन्दु ने संस्कृत के उपल्लेपकों को आधुनिक रूप देने का प्रयत्न किया। संल्लेप में नाटकीय विवरण से दर्शकों को परिचित कराने की मान्यता है। भारतेन्दु जी चाहते थे कि मुद्रण यंत्र से अब प्रोग्राम छपा कर दर्शकों में बाँट देने से काम सिद्ध हो जायगा।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में पात्रों के परिच्छद या वेश-विन्यास का भी निर्देश कर दिया है। उन्होंने उन नाटकों के अभिनय में जिनमें वेश-विन्यास का निर्देश नहीं रहता, रंगशाला में एक रसज्ञ वेश-विधायक की आवश्यकता समझी है। अपने नाटकों में तो उन्होंने पात्रों के स्वभावनुसार वेश भूषा का पूरा निर्देश कर दिया है।

इन बातों के अतिरिक्त नवीन नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए उन्होंने अनेक विधियों का उल्लेख भी किया है। यह बात उन्हें भी खटकती थी कि पुरुषों को स्त्रियों का अभिनय करना पड़ता है, स्त्रियों के हाव-भाव हेला आदि प्रदर्शन के लिए उन्होंने पुरुषों को अभ्यास करने की सलाह दी है। आज के अधिकांश नवयुवकों के लिए अभ्यास की आवश्यकता भी नहीं रह गई। यदि वे नाटक में स्त्री पात्र का अभिनय करें तो बिना अभ्यास के ही वे मझे में चल सकते हैं।

भारतेन्दु ने इस बात की भी आवश्यकता समझी थी कि नाटक दर्शकों को 'बोर' न करे। इसलिए उसके परवर्ती अंक क्रमशः छोटे होते जाने चाहिए। पात्रों के स्वभाव के अनुसार वार्तालाप या कथोपकथन, मितभाषिता के साथ वाग्मिता का योग, थोड़ी बात में गुरुतर भाव को व्यंजना, हृदय की आंतरिक और गूढ़ वृत्तियों का सहज चित्रण, शैथिल्य दोष का निराकरण, मनुष्य की प्रवृत्ति की आलोचना, पात्रों के वर्गों के अनुसार स्वाभाविक भाषा के वर्गों का निर्धारण, राजा और दास या दासी की भाषा आदि पर भारतेन्दु का ध्यान था। पात्रों के स्वर, पात्रों की दृष्टि, पात्रों के

भाव, पात्रों के अंग संचालन की क्रिया आदि पर भारतेन्दु की पूर्ण दृष्टि थी। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतेन्दु में संस्कृत नाट्य-शास्त्र के प्रति पूर्ण आस्था होते हुए भी नवीन के आग्रहों की स्वीकृति थी, जिसे उन्होंने अपने नाटकों में व्यावहारिक मंच पर उपस्थित किया और युग की माँग और आवश्यकता के अनुरूप नाट्यशास्त्र का विकास किया।

उनके आठ मौलिक नाटक हैं। विषय की दृष्टि से यदि उनका विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि भारतेन्दु ने अपने व्यक्तिगत विश्वास और युग की प्रवृत्तियों के आधार पर ही उनकी रचना की है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (संवत् १९३०) में धर्मशास्त्र के अनुसार हिंसा करने वालों की परिहासपूर्ण शैली में अच्छी खबर ली है। अंतिम अंक में यमराज के दरबार में अहिंसक राजा, मंत्री, पुरोहित आदि को दण्ड दिलाया गया है और शैव और वैष्णव को क्रमशः कैलाश और त्रैकुण्ड का वास दिलाया गया है। यह नाटक उनकी धार्मिक क्रान्ति का ज्वलंत उदाहरण है। इसी के अनुरूप 'प्रेमयोगिनी' (सं० १९३२) में भारतेन्दु ने तत्कालीन काशी की धर्मान्धता और आडम्बर पर आक्षेप किया है। इसमें भारतेन्दु की आत्मकथा के भी संकेत मिलते हैं जिसमें उन्होंने काशी के बदमाशों और बुरों चाल चलन वालों की अच्छी भर्त्सना की है।

'विषय विषमौषधम्' (सं० १९३३) बड़ौदा नरेश मल्हार राव गायकवाड के गद्दी से उतारे जाने पर लिखा गया। देशी राजे जब प्रजा पर अत्याचार करते हैं तब उनके पदच्युत होने में ही कल्याण है। अतः मल्हार राव का गद्दी से उतारा जाना ही देश-भक्ति की माँग थी।

'चन्द्रावली नाटिका' (सं० १९३३) भारतेन्दु की उत्कृष्ट नाट्य रचना है। अपने वल्लभ सप्रदाय की दृष्टि उपासना में जितनी अनुभूति और सरसता है उसे मनोहर गद्य और कविता के माध्यम

से भारतेन्दु ने प्रकट कर धर्म और साहित्य दोनों क्षेत्रों में अमरता प्राप्त की है। चन्द्रावली नाटिका की रचना संस्कृत नाट्य-शास्त्र के आधार पर हुई है, पर भारतेन्दु ने उसमें शिल्प-विधि के साथ काव्य का इतना सुन्दर समन्वय किया है कि वह नाटिका ही भारतेन्दु की कीर्ति स्थिर रखने में पर्याप्त है।

‘भारत दुर्दशा’ (सं० १६३३) और नील देवी (सं० १६३७) भारतेन्दु के राष्ट्रीय विचारों के फलस्वरूप रचनाएँ हैं। भारत दुर्दशा में भारत के प्राचीन गौरव और वर्तमान अवस्था को ध्यान में रखते हुए उत्कर्ष की कामना से लिखा गया है और नील देवी में भारतीय नारियों के हृदय में अदम्य साहस और क्रियाशीलता लाने का सफल प्रयत्न किया गया है।

‘अंधेर नगरी’ (सं० १६३८) में मूर्ख राजा के न्याय पर एक व्यंग्य है। भारत की वर्तमान अवस्था पर भी अनेक स्थानों पर लाल्छणिक चुटकियाँ ली गई हैं। यह प्रहसन है और नेशनल थियेटर नाटक मंडली के लिए एक दिन में लिखा गया था। सती प्रताप (सं० १६४१) सावित्री के पतिव्रत माहात्म्य पर लिखा गया था यह एक गीत रूपक है, किन्तु यह अपूर्ण ही रहा। इसमें प्रेम की सच्ची मर्यादा आँकी गई है, उसमें वासना का लेशमात्र भी छाया नहीं है।

इस भाँति विषय की दृष्टि से भारतेन्दु के मौलिक नाटक, राष्ट्रीयता, धर्म के सात्विक रूप, राजनीतिक आन्दोलन, समाज की व्यवस्था, तथा भारत के प्राचीन गौरव को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं। भारतीय आदर्शों की पृष्ठभूमि पर भारतेन्दु के ये नाटक हमारी सांस्कृतिक मान्यता के अभद्रूत हैं।



आधुनिक उपन्यास साहित्य

हिन्दी का आधुनिक उपन्यास साहित्य प्रखर गति से अग्रसर हो रहा है। जीवन की अनेक कहानियों की प्रतिक्रिया जिस वेग से उपन्यास साहित्य में अग्रसर हो रही है, उस वेग से साहित्य के किसी माध्यम में सम्भव नहीं हो सकी। काव्य में प्रयोगवाद और एकांकी में व्यंग्य विशेष प्रभाव-प्रवण नहीं हो पाये हैं किन्तु कहानी और उपन्यास में घटनाओं की अनुरंजन कारिणी क्रिया और प्रतिक्रिया ने आकर्षक रूप ग्रहण कर लिया है और जीवन के कसकते हुए पार्श्वों के प्रति हमारी सहानुभूति प्राप्त कर ली है।

आज का उपन्यास साहित्य जिस विचार-विन्दु पर पहुँचा है, उसमें व्यक्ति और समस्या का अथक संघर्ष है। व्यक्ति अपनी समस्त शक्ति लेकर जीवन से जूझ रहा है। व्यक्ति के मानस का अन्तर्पट आज पूर्ण प्रकाश में आने की चेष्टा कर रहा है। इस स्थिति को पूर्ण रूप से समझने के लिए इसके पूर्व की प्रेरणाओं से परिचित हो जाना आवश्यक है।

प्रेमचन्द युग में जीवन में अन्तर्निहित मनोविज्ञान के प्रकाश में लाने के लिए चारों दिशाओं से अग्रसर हुए। प्रेमचन्द की उपन्यास कला ने मानव जीवन की गहराईयों की थाह ली। उन्होंने भारतीय संस्कृति के उस व्यवहारिक रूप को देखा जो जन-जन के जीवन

में धुला हुआ है। पश्चिमी प्रभाव ने नागरिक जीवन को प्रश्रय दे दिया था। हमारी दृष्टि में ग्राम्य-जीवन हेय और असंस्कृत था। प्रेमचन्द ने अपनी कहानी और उपन्यास-कला से इस कृषि-प्रधान देश में ग्राम्यजीवन के अन्तर्गत मानवता के उत्कृष्ट रूप सजाये।

श्री जयशंकर प्रसाद ने कहानियों में व्यक्ति का अन्तर्दर्शन सुसज्जित किया और उपन्यासों में समाज के 'कंकाल' का रूप उपस्थित किया। उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि मानवता के क्षेत्र में दो विभिन्न सभ्यताओं का भी समन्वय हो सकता है। श्री जैनेन्द्र कुमार ने हीन-ग्रंथियों में उलझे हुए मानव की संवेदनात्मक वृत्ति को उभारने का प्रयत्न किया और श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक प्रसंगों में जीवन के संघर्ष को चिन्तन सम्पन्न किया। इन चार प्रकार के प्रयोगों में वर्ग की चतुर्मुखी परिधियों को तोड़कर व्यक्ति अपने स्वाभाविक और सहज मानसिक धरातल पर उतरने में समर्थ हुआ।

मानसिक धरातल सुव्यवस्थित हो जाने पर उपन्यास कला में गति आनी आरम्भ हुई। परम्पराओं का विरोध करते हुए क्रान्तिकारी पात्रों की अवतारणा में यशपाल की कला अग्रसर हुई। परम्पराओं का उपहास करने में भगवती चरण वर्मा का वर्णन-वैयिच्य समर्थ हुआ। पात्र की गहराइयों में जाने का प्रयत्न 'अज्ञेय' की कला का लक्ष्य बना और जीवन के व्यापक सम्बन्धों का रहस्य राधिका रमण द्वारा प्रस्तुत हुआ। आचार्य जगदीश चन्द मिश्र कृत 'इन्दिरा' में चरित्र की रेखाएँ बहुत सुन्दर ढंग से उभरी हैं। उसमें दोनों का समन्वय है।

किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों को बहुत बड़ा आघात लगा। रूस और चीन के विचारों से जहाँ व्यक्ति अधिक उद्बुद्ध और क्रियाशील हुआ, वहाँ सामाजिक प्रतिबन्धों से उसके हृदय में विद्रोह भी जाग उठा। फल

यह रहा कि समाज का अभिशाप देखने के लिए लेखक की दृष्टि समाज के गहरे अंचलों में चली गई है। 'कंकाल' में प्रसाद ने जो कहानी कही थी, जिसकी तह में प्रवेश करने का प्रयत्न फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने 'मैला अंचल' में किया; प्रेमचन्द और प्रसाद की कला का समन्वय हो गया हो। युग का विश्लेषण करते हुए उसमें नवीन विचारों के उन्मेष के लिए अमृत राय, नागार्जुन, अमृत लाल नागर, धर्मवीर भारती, आदि अग्रसर हुए।

आँचलिक कथाओं के साथ ही साथ सामाजिक मान्यताओं को परिवर्तित करने तथा उनमें नवचेतना लाने का प्रयत्न आधुनिक उपन्यासों द्वारा आरम्भ हुआ यद्यपि जिस माध्यम से यह सब हो रहा है। उसमें जीवन की विषमताओं की अपेक्षा 'रोमानी' जीवन के इन्द्रधनुष अधिक खिंचे हुए हैं। प्रेम ऐसी-ऐसी गलियों की खाक छान रहा है जहाँ अतृप्त आँकाक्षाओं का मुहल्ला का मुहल्ला बसा हुआ है; किन्तु इस हलकेपन के साथ ही मन की ऐसी टीस भी है जो कलेजे में फाँस की तरह चुभी हुई है।

सामाजिक और राजनीतिक प्रश्न आज तक उपन्यास निर्माण के प्रश्न-चिह्न हैं जिनका उत्तर घटनाओं में नहीं, पात्रों की विविध परिणतियों में मिल रहा है। व्यक्ति को लेकर ही उपन्यास चलता है और उसकी विवशता शक्ति में ही समाज के मूल्यों का निधारण होता है। ओंकार शरद का 'दादा' इस दिशा में अग्रगण्य है, जिसमें बिहार की राजनीतिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्र है।

मैं यही कहना चाहता हूँ कि इस प्रकार की विचार-क्रान्तियों में उपन्यास के शिल्प का निखार अधिकाधिक रूप में होना चाहिए।

प्रसाद का काव्य

श्री जयशंकर प्रसाद का काव्य हिन्दी में एक नये प्रयोग के मंगलाचरण के रूप में मुखरित हुआ । जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रीति कालीन काव्य की जड़ों से स्वस्थ प्रेम तथा राष्ट्रीयता के अंकुरों की सजगता और हरीतिमा उत्पन्न की, उसी प्रकार श्री जयशंकर प्रसाद ने द्विवेदी कालीन काव्य के बाह्य जगत् में अंतर्जगत् की चेतना प्रतिष्ठित की । भारतेन्दु युग से जिस स्वच्छन्दवाद की धारा प्रताप नारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और शोधर पाठक की रचनाओं में प्रवाहित हो रही थी, उसे महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शास्त्रीय मर्यादा के तटों में बहाने का प्रयत्न किया था किंतु श्री जयशंकर प्रसाद ने काव्य को शास्त्रीय मर्यादा में सीमित रखना उचित नहीं समझा । उन्होंने काव्य में श्रेय को वहीं तक मान्यता दी जहाँ तक वह प्रेय की सीमाओं का स्पर्श करता है । कोरा श्रेय सुन्दर से सुन्दर पुष्प होकर भी काव्य का विषय नहीं हो सकता, उसमें रागात्मक वृत्तियों का सौरभ अनिवार्य है । श्रेय और प्रेय का सम्बन्ध प्रसाद का कामायनी के इडा सर्ग में चित्रित जीवन के चित्र से स्पष्ट हो जाता है !

ममता की क्षीण अरुण रेखा, खिलती है तुझ में ज्योति कला ।

जैसे सुहागिनी की उर्मिल अलकों में कुंकुम चूर्ण मला ॥

इस भाँति प्रसाद के काव्य में जीवन की रागात्मक वृत्तियों के इन्द्रधनुषी चित्र हैं। स्कन्दगुप्त नाटक में स्वयं प्रसाद ने मातृगुप्त की वाणी में कविता की परिभाषा दी है। 'कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, सत् का असत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन करती है ? कविता ही न ?' यही कारण है कि प्रसाद के काव्य में अनुराग की अनेक चित्रशालाएँ हैं। अनुराग का मर्म स्पर्शी संचार नारी को केन्द्र मान कर ही आरंभ होता है। इसीलिए प्रसाद के काव्य में नारी को प्रमुख स्थान मिल गया है। अनुराग की इस मौलिक भाव भूमि तक ही प्रसाद नहीं रहे, वे उसके उदात्त रूप के भी आँकने में समर्थ हुए जिसके एक छोर पर नारी का काव्य ऐसे जीवन का चित्रण है जो रागात्मक अनुभूति से प्रेरित होकर जड़ को चेतन से और बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् से जोड़ देता है।

प्रसाद के काव्य का यही परिचय है। गहराई में जाने पर हमारे सामने इसकी स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। प्रसाद के काव्य का आरंभ सन् १९०६ के प्रारंभ से हुआ वे केवल १७ वर्ष के थे। काशी के साहित्यिक वातावरण में उनका विकास हुआ। उस समय वे ब्रजभाषा में ही कविता लिखते थे। ब्रजभाषा की समस्त परंपराएँ उनके सामने थीं। वही शृङ्गार रस के आलंबन और उद्दीपन, वही सिंहावलोकन और वही समस्या पूर्ति की शैली। प्रसाद की ब्रजभाषा कम प्रचलित हुई। पुरानी कविताएँ चित्राधार में सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। जिज्ञासा पूर्ति की दृष्टि से उनकी सर्वप्रथम 'सावन' समस्या की पूर्ति देखिये: जो काशी से प्रकाशित होने वाले 'इन्दु' की सन् १९०६ की जुलाई संख्या में प्रकाशित हुई थी :

सावन आये वियोगिन को तव,
आली अनंग लगे अति तावन ।

सावन होब लगी अबला
 तबपै जब बिजु छटा छबि छावन !
 छावन कैसे कहूँ मैं बिदेस
 लगे जुगनू हिय आग लगावन ।
 गावन लागे मयूर कलाधार
 मोंपि कै मेघ लगे बरसावन ।

'सावन' को 'बर सावन' के मध्य रख कर प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा के चिह्न तभी प्रदर्शित कर दिए थे, किन्तु यह प्रयास केवल ब्रजभाषा का वाग्विलास ही था। प्रसाद का यह अभ्यास अधिक दिनों तक नहीं चल सका क्योंकि इस बीच में उनके बड़े भाई की मृत्यु हो गई। माता और पिता का कैलासवास तो पहले ही हो गया था, इसलिए भाई की मृत्यु के बाद समस्त परिवार का बोझ इनके कंधों पर आ गया। यह समय प्रसाद के लिए संकट का था इसलिए वाग्विलास के स्थान पर इनके हृदय में करुणा की प्रच्छन्न सरस्वती प्रवाहित होने लगी और विश्वात्मा के प्रति आत्म समर्पण की भावना जाग उठी। इसी आत्म समर्पण की भावना में उनका उपनाम 'प्रसाद' निर्मित हुआ क्योंकि ये जीवन को विश्वात्मा का प्रसाद मानने लगे। सन् १९०६ से १९१७ तक की रचनाओं में प्रसाद के काव्य में यही करुण मन्दाकिनी तरंगित हुई। इन रचनाओं का संग्रह 'कानन कुसुम' में हुआ। यों तो कानन कुसुम का प्रकाशन १९१२ में हुआ किन्तु १९१८ में इसके द्वितीय संस्करण में १९१७ तक की समस्त रचनाएँ संग्रहीत हो गई। इन रचनाओं पर ब्रजभाषा के शब्द विन्यास और उर्दू की बहरों का विशेष प्रभाव है, यद्यपि प्रसाद का काव्य ब्रजभाषा से खड़ी बोली के क्षेत्र में आ गया। 'सरोज' और 'पतित पावन' शीर्षक रचनाओं में उनके उपनाम 'प्रसाद' की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है :—

(१) तुम्हारे केशर से हो सुगंधित, परागमय हो रहे मधुव्रत ।
 'प्रसाद' विश्वेस का हो तुम पर, यही हृदय से निकल रहा है ।

(२) प्रसाद उसका ग्रहण कर छोड़ दे आचार अनवन,
 वो सब जीवों का जीवन है, वही पतितों का पावन है ।

पतित होने की देरी है,

तो पावन हो ही जाता है ।

'कानन कुसुम' प्रसाद के काव्य का प्रथम उन्मेष है । इसके अनन्तर सन् १९१३ में 'प्रेम पथिक' और १९१४ में 'महाराणा का महत्व' नामक कथा काव्यों का सृजन हुआ । संभवतः यह द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता का आग्रह हो । प्रसाद के काव्य का द्वितीय उन्मेष 'आँसू' विरह काव्य में हुआ जो ग्यारह वर्षों बाद सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ । कृष्णा की वह प्रच्छन्न धारा जो सन् १९०६ में कानन कुसुम में दृष्टिगत हुई थी सन् १९२५ में आँसू के रूप में प्रवाहित हुई । इसके आधार में लौकिक प्रणय, निराशा और विरह की तीव्र तरंगे हैं :—

जो घनीभूत पीड़ा थी

मस्तक में स्मृति सी छाई

दुदिन में आँसू बन कर

वह आज बरसने आई ।

आँसू के धुले हुए संयोग और वियोग के चित्र इसमें इतने निखरे हुए हैं कि विविध वादों की धूल उन्हें कभी धूमिल नहीं कर सकेगी ।

आठ वर्ष बाद सन् १९३३ में इसके दूसरे संस्करण में प्रसाद ने इसमें आध्यात्मिक प्रतीक रख कर इस आँसू में लोकोत्तर व्यञ्जना भी रखी । संभव है कवि आज गंभीर हो गया और उसे अपने व्यक्तिगत दुःखों की अपेक्षा संसार के कष्टों का अनुभव होने लगा । इस बीच में उस पर विविध दार्शनिक अनुभूतियों का भी प्रभाव पड़ा । किन्तु

‘आँसू’ काव्य में कवि की प्रतिभा को प्रतिष्ठा हिन्दी जगत में कर दी और जिस लाक्षणिकता और प्रतीक पद्धति का प्रयोग कवि ने किया था, उसने छायावाद की सृष्टि की।

जब कवि अपने दुःखों से ऊपर उठा तब उसने दार्शनिक होकर प्रकृति में प्रवेश किया। इस प्रगति ने प्रसाद के काव्य में तृतीय उन्मेष का आविर्भाव किया। आँसू की रचना के तीन वर्ष बाद सन् १९२८ में ‘झरना’ की सृष्टि हुई और सात वर्ष बाद सन् १९३५ में लहर की। आँसू से ‘लहर’ तक दस वर्षों में कवि प्रसाद ने प्रकृति की रम्य-स्थली में विहार किया। प्रकृति के बाहरी और भीतरी रूपों की जितनी सरस और रहस्यमयी व्यञ्जना ‘झरना’ और ‘लहर’ में हुई है, उतनी आधुनिक हिन्दी काव्य में कहीं नहीं देखी जा सकती। लहर में प्रकृति के जो प्रतीक निर्धारित हुए, उन्हीं से प्रसाद के काव्य में रहस्यवाद की अनुभूति हुई। लहर को जीवन की गीति का प्रतीक मान कर वे पुलिन रूपी विश्वात्मा के समीप जाना चाहते हैं :—

उठ-उठ गिर-गिर फिर फिर आती,

नर्तित पद चिह्न बना जाती,

सिक्ता की रेखाएँ उभार

भर जाती अपनी तरल सिहर।

तू भूल न री पंज वन में,

जीवन के इस सूनेपन में

ओ प्यार पुलक से भरी दुलक

आ, चूम पुलिन के विरस अधर।

जिस प्रकार पुलिन को चूमने में ही लहर की सार्थकता है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा के मिलन में ही रहस्यवाद है।

प्रसाद जी कथा-शिल्पी भा थे। उनकी प्रतिभा ने सन् १९१३ में ‘प्रेम पथिक’ की रचना काव्य में की ही थी। इसके बाद वे कविता के साथ अनेक कहानियाँ, उपन्यास और नाटकों की रचना भी करते

रहे । यहाँ तक कि उन्होंने कानन-कुसुम और लहर के अंत में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों पर सुन्दर प्रबन्धात्मक कविताएँ भी लिखीं । कथा साहित्य में आस्था, भावों की गहरी संवेदना और प्रकृति की रहस्यात्मक अनुभूति में उनके काव्य का चतुर्थ उन्मेष दृष्टिगत हुआ । यह उन्मेष है उनका कामायनी महाकाव्य जो लहर के दो वर्ष बाद सन् १९३७ में निर्मित हुआ । कामायनी महाकाव्य में मनोविज्ञान की गहरी प्रक्रियाओं में स्वस्थ जीवन दर्शन है । यह जीवन दर्शन अद्वैतवाद और शैवागम की संधि में 'आनन्द' की अखंड अनुभूति में है । इच्छा, कर्म और ज्ञान की समरसता में ही जीवन की सार्थकता है ।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सकें
यह विडम्बना है जीवन की ।

जब ये तीनों सम्बद्ध होते हैं तो उसी में विराट साकार होता है :—

शक्ति तरंग प्रलय पावक सा
उस त्रिकोण में निखर उठा सा
शृङ्ग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा सा ।

'कामायनी' में प्रतीकों के आश्रय से कथा और भी साभिप्राय हो उठती है । श्रद्धा के प्रतीक से प्रसाद ने नारी को जो गौरव प्रदान किया है, वह भारतीय संस्कृति का मेरुदंड है ।

सन् १९३७ में ही प्रसाद जी की मृत्यु हुई । वे केवल अड़तालिस वर्ष की आयु में ही चले गये; किन्तु हिन्दी में 'कामायनी' की सृष्टि कर वे अमर हो गए हैं ।

युद्ध-कालीन हिन्दी कविता

यह निर्विवाद सत्य कि किसी भी देश में राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य की गति-विधि का निर्माण करने में बड़ी मात्रा में सहायक होती हैं। युद्ध और क्रान्ति के समय में लिखा गया साहित्य शांति और सुव्यवस्था में लिखे गए साहित्य से भिन्न होता है।

सन् १९३९ में प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध ने हमारे देश के राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोणों को प्रभावित किया। भारतीय जीवन को आर्थिक विषमताओं के कारण भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु इस महायुद्ध के साथ हमारे देश की सहानुभूति न्यूनतम मात्रा में रही। हमारा देश केवल यही चाहता रहा कि यह युद्ध इतना न बढ़े कि एशिया के राष्ट्रों को पश्चिमी राजसत्ताओं के सामने घुटने टेकना पड़े। वस्तुतः इस महायुद्ध में ब्रिटेन को सक्रिय सहयोग देने की भावना न तो हमारे देश की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की ओर से रही और न उसे जनता के हृदय से ही कुछ सहानुभूति प्राप्त हो सकी। जनता अपने देश की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाली राजसत्ता से सहयोग भी कैसे कर सकती थी। परिणामस्वरूप यह भयावह महायुद्ध एक तूफान की तरह हमारे देश के ऊपर से बह रहा था और हमारा देश उसकी विभीषिकाओं से आक्रान्त होता हुआ भी उस तूफान

के रोकने में मदद नहीं करना चाहता था। उस समय जनता में एक-आध वर्ग ऐसा अवश्य था जो अपने सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए उस महायुद्ध को लोक युद्ध का रूप देकर उसमें योग देने की बात सोचता था। किन्तु देश का बहुमत इस महायुद्ध में योग देने के प्रतिकूल ही था। फलस्वरूप हमारे देश का साहित्य विशेषकर कविता इस युद्ध की प्रेरणा से प्रायः शून्य ही रही। चारण कालीन कविता की भाँति न तो वह कविता भैरवी का नृत्य बन सकी और न उसके द्वारा युद्ध में भाग लेने के लिए किसी को प्रेरणा ही मिल सकी।

इस युद्ध का प्रभाव भारतीय सामाजिक जीवन को विकृत अवश्य कर रहा था और साहित्य समाज से प्रभावित होने के कारण उस विकृति का शिकार अवश्य बन गया था। यह विकृति हमारे जीवन में अनेक प्रकार से आई। सबसे पहली और कदाचित् सबसे भयानक विकृति हमारे इस बेबस गरीब भारत को बंगाल के अकाल के रूप में मिली। यातायात के द्वारों के बन्द हो जाने के कारण तथा अन्न संचय की नीति के कारण इस 'सुजलां सुफलां शस्यस्यामलां' भारत को घोर अन्न-संकट का सामना करना पड़ा। यह अकाल का भीष्म पिशाच उसी उर्वर भूमि में अपनी समस्त विभीषिकाओं के साथ आया जिसने भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में योग देने के लिए चितरंजन दास और सुभाष जैसे वीरों की सृष्टि की थी। और साथ ही जिसके गौरव के महान् प्रतीक विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वतन्त्रता की रागिनी गाई थी। जब ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रदेश की जनता भूख से त्राहि-त्राहि करने लगी तो भारत का हृदय अपनी समस्त करुणा के साथ रो उठा। ऐसी करुणा-जनक परिस्थिति में हिंदी कवियों ने अपने काव्य में करुणा की शैवालिनी प्रवाहित कर दी और संसार की सभ्यता को ललकार दिया। 'एक भारतीय आत्मा' के हृदय से ये पंक्तियाँ निकलीं :—

यह प्रतिभा का दिव्य दान, ऊँचा उठ बोला ।
 और मगध-भू की संस्कृति कृति ने मुँह खोला ।
 हम बोले उत्तर-दक्षिण पूरब-पश्चिम से,
 और जगत का खंड खंड तब हम से बोला ।
 मैं दरिद्र थी किंतु सूक्ष्म दारिद्र्य हटाये,
 जीण रही पर सूली पर सपूत लटकाये ।
 मैं शिथिला मैंने चिन्तन रत सन्त दिये थे ।
 देशबन्धु से परम तपी सामन्त दिये थे;
 उसी बंग को आज समय क्या भूखा मारे,
 वही बंग क्या आज दरबदर हाथ पसारे ।
 उसी बंग के बेटे वे ही बेचे जावें ।
 महतर की गादियाँ मृतक शव खेंचे जावें ।
 देश बंग की भूख भीख की भाषा मत गिन
 पीड़ित भू का देख पतन परिभाषा मत गिन ।
 इसके नौनिहाल लक्षों में देख रहा तू,
 फिर युद्धोत्तर जगत बनेगा खेल रहा तू ।
 लगे कला में आग अरे गाता फिरता है
 आँसू भरे दिलों को भरमाता फिरता है ।
 कला आज है स्वयं बंग के मुख में रोटी,
 कला आज है स्वयं बंग के चरणों लोटी ।
 कला आज है सूली के गर चावल भेजे,
 कला आज है शांति-निकेतन में बल भेजे ।

और कहें कवि की वाणी में,
 रे अग जग के आता,
 जनगण ऐक्य विधायक जय
 हे भारत भाग्य विधाता ।

इसी स्वर में गानेवाले कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्री बच्चन; श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री सियारामशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा आदि मुख्य थे, जिनकी बंगाल के अकाल पर लिखी गई कविताओं का प्रकाशन बंग-दर्शन के नाम से १९४३-१९४४ ई० में हुआ।

इस युद्ध का दूसरा प्रभाव हमारे सम्मुख उस समय प्रत्यक्ष रूप में आया जब हमारे देश के पूर्वीय भाग पर युद्ध के काले बादल न केवल मँडराने लगे थे, वरन् उनमें से एक आघ ने उपल वर्षा भी कर दी थी। देश ने विस्मय-विभ्रान्त होकर देखा कि वीर सुभाषचन्द्र बोस ने विदेश में जाकर सैन्य संगठन किया है और आज़ाद हिन्द फौज के साथ वे भारत को ग्रन्थन मुक्त करने जा रहे हैं। श्री सुभाष बोस ने जापान के साथ युद्ध में योग दान देकर जिस वीरता शौर्य और साहस का कार्यक्रम निर्धारित किया था उसके लिए संपूर्ण देश ने उसका हृदय से अभिनन्दन किया था और उनके सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने का विचार किया। श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने लिखा :—

दीपक से दीपक जलता है,

“ज्योति अमर माँ के मन्दिर की

तुम दीपक की ज्योति बढ़ादो

बत्ती काटो मेरे सिर की॥”

एक बार प्रकाश स्तम्भ को देखकर कवियों ने परतन्त्रता के अन्धकार की सीमा छोड़ दी और वे अपनी लेखनी के साथ उस वीर सेनानी के गीत गाने के लिये अग्रसर हो गये। वे इस पर विश्वास नहीं कर सके कि जिस वीर से उन्हें नवीन ज्योति और नवीन स्फूर्ति मिली थी क्या वह बाद में भी ज्योतिर्मय होकर आँखों के सामने था या प्रकाश की वह रेखा मृत्यु के अन्धकार में समा गई थी। वे आज भी यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि उनका

वीर सेनानी सुभाष उन्हें छोड़ कर किसी दूसरे लोक में चला गया है ।

इस युद्ध का तीसरा प्रभाव उस साम्यवाद में प्रतिध्वनित हुआ जो रूस से चल कर हमारे देश के नवीन कवियों को किसान और मजदूरों के हृदय में विद्रोह के बीज बोने के लिये प्रेरित कर रहा था । उन्होंने भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक भविष्य के प्रति एक उदास संन्यास लेकर केवल मजदूरों और किसानों की सहायता से एक नये साम्यवाद को जन्म देना प्रारम्भ कर दिया था । रूस की सहानुभूति में उन्होंने महायुद्ध में योगदान दिया और किसान और मजदूर की आर्थिक दशा का करुण चित्र खींचकर उन्होंने इस देश के निवासियों की सहानुभूति भी अर्पित करनी चाही । कवि 'अंचल' ने लिखा :—

पड़ी शमशीर दुल्हन सी
छिपी क्यों म्यान में साथी
तुम्हें सौगन्ध अस्मत के
रुपहले उन सितारों की
तुम्हें सौगन्ध है क्ययूर के
उन जां निसारों की
तुम्हें सौगन्ध अन्धड़
और तूफानी नज़ारों की
पड़ी शमशीर दुल्हन सी
छिपी क्यों म्यान में साथी ।
चले परा-चिन्ह मानव मुक्ति
के रखता तुम्हारा दल,
तुम्हारे खून में जाने
सतत प्रतिरोध का संबल
रुके विध्वंस की धारा

विजय जन-शक्ति की उज्ज्वल

पड़ी शमशीर दुखहन सी छिपी क्यों ग्यान में साथी ।

महायुद्ध का एक प्रभाव और भी हुआ । इसे हम चौथा प्रभाव कह सकते हैं, किन्तु यह प्रभाव प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । उसमें हमारी दृष्टि इन अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की विषमता से आक्रान्ति होकर अपने देश के अमर नेता महात्मा गाँधी की ओर गई । इस महापुरुष ने सत्य और अहिंसा का आश्रय लेकर समस्त विश्व को चकित कर दिया । उसी महात्मा के नेतृत्व में हमारे देश ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है ।

श्री सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है :—

किन्, तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जायेगा जग जीवन
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता
प्रेम शक्ति से चिर निरख हो जावेगी पाशवता

बापू तुमसे सुन आत्मा का

तेजराशि

आह्वान

हँस उठते हैं रोमहर्ष से,

पुलकित होते

प्राण

नव संस्कृति के दूत

देवताओं का करने कार्य

आत्मा के उद्धार के लिये

आये

तुम

अनिवार्य

बापू पर लिखने वाले कवियों में श्री मैथिलीशरण, गुप्त, सिया-रामशरण गुप्त, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्री सोहनलाल द्विवेदी प्रमुख हैं ।

मेरी काव्य-रचनाएँ

अपने इन्द्रधनुषी बालपन के रङ्गीन चित्र अब भी मुझे याद हैं। विन्ध्य की पहाड़ियों पर या सीगरी नदी के उथले जल में जब मैं खेला करता था तो संसार की सारी चंचलता जैसे मुझमें समा जाती थी। ऊँची से ऊँची पहाड़ी पर चढ़ कर जैसे मैं अपने साथियों से दो हाथ ऊँचा उठ जाता था और नदी में डुबकी लगा कर भाग्य की तरह कहीं डूब कर उभर आता था। शैशव के इस कौतूहल में जैसे मेरी कविता पक्षिशावक की भाँति उठ-उठ कर गिर जाती थी। किन्तु उस समय मुझे यह ज्ञात नहीं था कि यह क्रीड़ा मेरी नहीं है वरन् किसी अज्ञात प्रेरणा की है। जो भविष्य में अंकुरित होना चाहती हैं और काव्य का कौशेय कंचुक पहन कर नृत्य करना चाहता है।

कौशेय कंचुक उसे नहीं मिला क्योंकि मैं भौतिक शृंगार की रचनाओं से विरत रहा। आलिंगन की उष्णता और चुम्बन की मादकता भरे रीतिकालीन साहित्य की रंगशाला में मेरा काव्य तपस्वी की भाँति बैठा रहा। मेरे अन्य सहयोगियों तो रीति काल का परिष्करण कर अपने काव्य के तूणीर में अनंग के तीर ही रखे, किन्तु अपने अंतःकरण का सहज वस्त्र धारण कर मेरा काव्य

ज्योति का आह्वान हो करता रहा । इसलिए अपने काव्य के प्रभाव में मैंने किरण का आह्वान करते हुए लिखा था ।

समय शान्त है मौन तपस्वी सा तप में लवलीन
रात्रि मुझे तो दिन ही है केवल दिनकर से हीन
नभ के पद पर धरा बड़ी है, यह है चिर अभिशाप
तारे अपना हृदय खोल दिखलाते है संताप
प्रोयसि जग है एक भटकता शून्य सतप अज्ञात !

एक ज्योति सी उठो गिरो पथ पथ पर बनकर प्रात !

इस प्रकार शैशव से मेरी प्रवृत्ति सदैव जीवन के परिष्करण की ओर रही है । अपने आधुनिक कवि (३) की भूमिका लिखते हुए मैंने (सन् १९३६) यह स्पष्ट किया था—

अपने नवयुवक जीवन से लेकर आज तक मैंने जो कविताएँ लिखी हैं वे उन क्षणों की रेखाएँ हैं जिनमें मैंने जीवन की गति अनुभव की है । ऐसे जीवन भी जो अत्यन्त पवित्र गुण से उत्पन्न हुआ है । मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है । इसलिए मैंने किस हलके क्षण में कविता नहीं लिखी । अपने काव्य जीवन के प्रभाव में मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था । आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है । संभवतः यही कारण है कि मैंने भौतिक श्रृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका । या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के कोढ़ में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती है ।

मैं जब कभी आत्म विश्लेषण करने बैठता हूँ तो यही ज्ञात होता है कि संभवतः इसी पवित्र अनुभूति में मेरे काव्य में रहस्यवाद की प्रेरणाएँ जाग उठी होंगी । और ये प्रेरणायें अनजाने ही मेरे स्वर में समा गई । अपने इस नवयुवक जीवन में दार्शनिक नहीं बनना चाहता था । जीवन की स्वस्थ प्रवृत्तियों से जीवन का उचित

मूल्यांकन करने की इच्छा थी लेकिन मेरे पवित्र क्षणों सम्भवतः कबीर के काव्य के प्रभाव में—मैं धीरे-धीरे अनजाने ही दार्शनिक हो चला था। तभी मैंने लिखा था—मैं इतनी दूर चला आया, यह मुझे कभी स्वीकार न था।

इस कविता की कुछ पंक्तियाँ सुनिये—

उड़ना सीखे खग शावक से
 ये क्षण उड़ उड़कर भाग गये।
 जो स्वप्न कली में बन्द रहे,
 वे अब फूलों में जाग गये
 दूरी की धूमिल नील रेख
 बन रही दृष्टि पथ की रेखा।
 शशि के बढ़ते मङ्गल में मैंने
 अपने को बढ़ते देखा !
 मैंने सब बन्धन तोड़ दिये,
 जिनमें जीवन संकीर्ण बना
 वे परिभाषाएँ भूल गया जिनमें
 मेरा स्वर जीर्ण बना
 जब मैं इस सीमा पर पहुँचा
 तब सीमा का संसार न था।
 मैं इतनी दूर चला आया
 यह मुझे कभी स्वीकार न था।

इसी मनोवृत्ति के कारण मेरे काव्य में रहस्यवाद की अनुभूतियाँ जीवन को साथ लेकर चली हैं। मेरे आलोचकों ने भी यह स्वीकार किया है, कि मेरी रचनाएँ भले ही अनुभूति में बहुत दूर तक न जा सकी हो किन्तु जो कुछ भी लिखा है वह स्वस्थ और स्पष्ट है। रचनाओं में क्लिष्टता और जटिलता के दोष से मैंने अपने को भरपूर बचाने की चेष्टा की है, मेरी वस्तुवाद की प्रखरता और जीवन की

पवित्र अनुभूति के संधि स्थल पर जो कविता लिखी है उसका शीर्षक
जीवन की गति । उसे सुनिये—

मुझसे यह मत कहो कि जीवन
आज और कल का संचय है ।
यौवन के साथी से मेरा
देखो युग युग का परिचय है ।
करुणा के वे गीत छोड़ दो
निर्झर की पतली धारों को ।
दुःख के चित्र अतीत छोड़ दो
प्रातः के बुझते तारों को ।
प्रथम मिलन की भौँति,
विरह की भौँति, तुम्हारा हुआ उदय है ।
मुझसे यह मत कहो कि जीवन.....

भूलो उन बातों को जिनमें
एक सिसक के गीत बनाये
और रजत रातों को जिनके
उलझे क्षण-क्षण दग से लाये
जिनमें प्रिय मुस्कान और
आँसू का चिर संचित अभिनय है ।
मुझसे यह मत कहो कि जीवन.....

जो चितवन को शर कहते हैं
वे चितवन को क्या पहचानें
बिना बादलों के कैसे हो
जाती है बरसात न जाने
उठी दृष्टि से सृष्टि और

कुछ उठी दृष्टि में उन्हें प्रलय है ।
 मुझसे यह मत कहो कि जीवन.....
 मैं इन लहरों के बन्धन में
 कस न सकूँगा बन्धन वालो
 मैं इस प्रेम भरी चितवन में
 बस न सकूँगा कुछ कर डालो ॥
 हों केवल मुझसे यह कह दो
 पथिक तुम्हें पथ मंगल मय है
 मुझसे यह मत कहो कि जीवन
 आज और कल का संघर्ष है ॥

इस भावना के विकास में मैंने अपने काव्य में जीवन की जो
 परिभाषा की थी, जिसकी अनुभूति मैंने अन्तरतम प्रदेश में की थी
 वह इस प्रकार है :—

दिशा ज्ञान रख कर
 किस सरिता की चल पड़ी तरंग ।
 कहाँ नहीं नभ में घूमी है
 बूँद जलद के संग ?
 तारों ही में चमक उठी
 नभ की उल्लासित उमंग ।
 क्या सुमनों का अंग छू गये
 ये दो दिन के रंग
 दीपक के जलते प्राणों की
 आशा बन कर धूम
 तम के गहरे पथ पर बढ़कर
 रुक कर झुक कर घम
 कहाँ जा रही नभ की
 व्यापकता का ले अभिमान

क्या जल जाने के ही क्षण से निकलता है निर्वाण ॥
 फिर मैं ही क्यों रुक जाऊँ अपने जीवन में जाग ।
 जाऊँगा जिस पथ पर होगा वही पुण्य भू भाग ।
 जाऊँगा जिस स्वर से होगा वही शक्ति का राग ।
 मेरा त्याग बनेगा, रागी का रंजित अनुराग ।
 मौन प्रकृति के अधरों पर जब नव प्रभात का हास—
 श्याम क्षितिज के किसी कोण से आ जायेगा पास ।
 तब मेरे ही स्वर में वह कह देगा यह सोखनास ।
 मैं जीवन हूँ, अब न रहे कोई भी मौन उदास ॥

जीवन को आशावाद का संदेश देना ही मेरी काव्यता का ध्येय रहा है। जहाँ कहीं निराशा की कुछ पंक्तियाँ आपको देखने को मिलेगी, वहाँ वह अध्यात्म-क्षेत्र की निराशा है।

मैं सोचता हूँ कि अध्यात्म क्षेत्र में निराशा का मूल्य बहुत अधिक है। कबीर ने तो अपने पदों में आत्मा को 'विरहिन' माना है। लेकिन भौतिक क्षेत्र में निराशा श्लाघ्य नहीं है। मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ। भौतिकवाद की निराशा का नहीं। विनाश और मृत्यु में मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है। जिस प्रकार एक वृत्त की परिधि में बैठा हुआ अंतिम बिन्दु फिर प्रथम बिन्दु हो जाता है उसी प्रकार विनाश में ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटाना ही अन्त का दूसरा नाम है। अतः विनाश और विकास में विरोध नहीं है। प्रसाद जो के शब्द लेकर मैं कह सकता हूँ कि जीवन के चिर प्रवास में विश्राम है। इसलिए मैंने लिखा था—

एक ज्योत्स्नामय उनीदी रात, जीवन की अवधि है।

सुख थपकती सी लहर है, और दुःख भीषण उदधि है।

सौंस की पतवार मेरी चल रही पर निर्बला है।

भाग्य ने मुझको छला है ॥

धरती का स्वर्ग

संसार भर में प्रकृति सौन्दर्य के दृष्टिकोण से हमारे देश में जो मनोरमता है, वह बहुत कम देशों को प्राप्त है। सर्वोच्च गिरिमाला, के क्रोड से निकलने वाली पवित्र और गुणकारी जल से परिपूर्ण नदियाँ उनके समीपवर्ती उपजाऊ भूमि, अनेक प्रकार के पुष्पों से सुसज्जित, पेड़ और लताएँ और विविध श्रुतियों की नृत्यमयी शोभा हमारे देश की विशेषता है ! महाकवि निराला के शब्दों में :—

भारति, जय विजय करे !

कनक शस्य कमल धरे

लंका पद-तल शतदल

गर्जितोमि सागर-जल

धोता शुचि चरण युगल

स्तव कर बहु अर्थ भरे !

तरुतृण वन लता वसन,

अंचल में खचित सुमन,

गंगा ज्योतिजल कण

धवल-धार हार गले !

मुकुट शुभ्र हिम तुषार

प्राण प्रणव ओंकार,

ध्वनित दिशाएँ उदार शतमुख शतरव मुखरे !

इस प्रकार हमारा देश प्रकृति का क्रीड़ाङ्गण है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों में मुख की शोभा विशेष होती है, उसी प्रकार हमारे देश के मस्तक की शोभा भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक है। हमारे देश का मस्तक यह काश्मीर ही है जहाँ प्रकृति अपनी अनुपम छटा से नित्य नवीन देव धारण करती है। उपत्यकाएँ, हिम शैल, बादल, पुष्पराशि, वृक्ष राजि ने काश्मीर की सुषमा को सौन्दर्य के एक नवीन स्वर्ग के रूप में सुसज्जित किया है। यही कारण है कि काश्मीर को हमारे कवियों ने स्वर्ग का एक कोना कहा है। मुगल सम्राट् जहाँगीर ने भी इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कहा था—‘अगर फ़िरदौस बर रूप ज़मीनस्त, हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त’—अर्थात् यदि पृथ्वी पर कोई स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है, यही है।

फूलों के देश काश्मीर के सम्बन्ध में मेरी एक कल्पना है :—

कितना सौन्दर्य, कितनी सुषमा !

जहाँ देखो, इस उपत्यका में फूल ही फूल बिखरे हुए हैं, प्रत्येक स्थल पर फूलों की राशि अपनी ही विपुलता में बिखरी हुई हैं। यहाँ इतने फूल क्यों हैं ?

संभव है, प्रकृति ने इतने फूल मेरे सामने रख कर कहा हो—मनुष्य ! विश्वात्मा कितना महान् है ! कितना शक्तिशाली है ! कितना सुन्दर है ! तू इतने फूलों से उसकी पूजा कर !

तब क्या विराट् की पूजा के लिए ही प्रकृति ने काश्मीर में इतने पुष्प विकसित किए हैं ?

समुद्र तल से लगभग पाँच हजार फीट ऊपर पचासी हजार वर्ग मोल में धरती का यह स्वर्ग फैला हुआ है ! आकाश-गंगा की भाँति इसके ठीक मध्य में भेलम नदी प्रत्येक ऋतु में प्रवाहशील है।

नीहारिकाओं की भाँति अनेक झीलें, नहरें और झरने स्थान स्थान पर अपने ज्योति-मण्डल का निर्माण कर रहे हैं। आपका स्वागत करने के लिए 'बानिहाल' एक सिंह द्वार की भाँति नौ हज़ार फीट ऊँचा मस्तक उठाये आपकी प्रतीक्षा करता मिलेगा। प्रवेश करते ही आप एक विशाल साम्राज्य में प्रवेश करेंगे जहाँ कलियाँ और फूल हल्की हवा में अप्सराओं और गंधर्वों की भाँति नृत्य करते जात होंगे। विविध प्रकार के रंग-बिरंगे दृश्य, कल-कल निनादित जल के किनारे झूमती हुई सुगंधि से परिपूर्ण लताएँ इन्द्र के नन्दन-कानन को लज्जित करती हुई जात होंगी और इस स्वर्ग को ज्योति मण्डल के समान घेरने वाली श्वेत हिम से अच्छादित वे पर्वतमालाएँ हैं जिनकी विशाल बाँहों में यह सौन्दर्य केन्द्रित हो गया है और उत्तर में स्थित ध्रुव तारे की भाँति हमें अटलता, सुदृढ़ता और निर्भीकता का निमंत्रण दे रहा है। कोई शक्ति इस स्वर्ग को हमसे नहीं छीन सकती है। यह धरती का स्वर्गहमारा है और हमारा रहेगा।

बारहवीं शताब्दी में महाकवि कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना कर इस धरती के स्वर्ग की प्रशस्ति कही है। सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक काश्मीर की ५०० वर्ष की सभ्यता कल्हण की वाणी से मुखरित हुई है। आठवीं और नवीं शताब्दी में वास्तुकला की चरम उन्नति का केन्द्र काश्मीर ही रहा है। ललितादित्य के शासनकाल (सन् ७२४-७६० ई०) में सूर्य भगवान का जो मंदिर निर्मित हुआ वह 'मार्त्तण्ड मंदिर' के नाम से भारतीय वास्तुकला के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों के पवित्र स्थानों के स्मारकों से यह भूभाग यशस्वी रहा है। सम्राट् अशोक के शासन काल में तो संस्कृत अध्ययन का यह विशेष केन्द्र रहा है। इसी स्थान से भारतीय कला और संस्कृति की किरणें सुदूर पूर्व के देशों में पहुँची हैं। हमारे देश की स्वतंत्रता का यह प्रहरी अपने विशाल पर्वतों की ढालों से

आक्रमणकारियों को सदैव ही असफल बनाता रहा है। हमारी स्वतंत्रता का प्रतीक यह प्रदेश सदैव ही वीरता और सौंदर्य में अद्वितीय रहा है। महाराज रणजीतसिंह की वीरता की तलवार सदैव इसका आलोक मंडल बनी। हिन्दूकुश और कराकोरम इसके दो विशाल स्कन्ध हैं जिनके हीरामुख और नागापर्वत दो भुजदण्डों ने आकाश में अपनी अखंडता की धोषणा की है।

इस प्रकार काश्मीर हमारी संस्कृति, राजनीति और इतिहास का प्रबल प्रतीक है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री ने इसमें भ्रमण कर अपने को घन्य समझा।

आज राजनीति के बदलों से काश्मीर आच्छादित है। धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक तर्कों से पाकिस्तान इस भू-स्वर्ग को हस्तगत करना चाहता है किन्तु उसके वे तर्क संसार की राजनीति में भ्रान्ति के सबसे बड़े उदाहरण समझे जायेंगे। यह और भी स्पष्ट हो जायगा जब निष्पक्ष रीति से बिना दबाव के जनमत का संग्रह हो जायगा। भारत और साम्राज्यवाद दो विपरीत बातें हैं। पाकिस्तान के द्वारा भारत पर जो आरोप किये गये हैं वे नितान्त तर्कहीन हैं क्योंकि पाकिस्तान के द्वारा उठाये गये उपद्रव में भारत ने कोई भाग नहीं लिया। काश्मीर को अपने में सम्मिलित करने के लिये न तो भारत ने उस पर आक्रमण किया और न उसे किसी प्रकार के आत्मसमर्पण के लिये विवश ही किया। पाकिस्तान से आक्रान्त होने पर काश्मीर ने भारत से सहायता माँगी और मानवता के नाते और पड़ोसी होने के कारण भी भारत ने उसे सहायता दी। बर्बर आक्रमणकारियों के दानवी अत्याचारों से पीड़ित काश्मीरी जनता की रक्षा यदि भारतीय सेना न करती तो यह पृथ्वी का स्वर्ग सदा के लिये नर्क बन जाता। वह दिन दूर नहीं है जब प्राकृतिक अविच्छिन्नता के कारण काश्मीर भारत का भाग ही बनकर रहेगा और भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसका अपना महत्व कभी विस्मृत न होगा।

धरती के इस स्वर्ग को देखकर मन में सहस्रों कल्पनायें उदय हो जाती हैं। चन्दन बाड़ी, फ़ीरोज़पुरी नाला, पहलगँव, गुल्मर्ग, खिलन मर्ग, मानस बल, डल मील आदि ऐसी विभूतियाँ हैं जिनके दर्शन से नेत्र प्रफुल्लित हो जाते हैं और स्मृति में उनकी अमर रेखा खिंच जाती है। मैंने 'मानस बल' देखकर एक स्थान पर लिखा था :—

मानस बल के निर्मल जल में जब मैंने अपनी दृष्टि डाली तो नीचे की सभी वस्तुएँ स्पष्टता के साथ दीख पड़ीं। उसी समय आशा के समान विविध रंगों से रंजित एक पक्षी अपनी गति की रेखा में संगीत का रंग भरते हुये उड़ गया। उसका प्रतिबिम्ब जल के ऊपर एक रंगीन लहर बनकर निकल गया। नीचे और ऊपर के प्रतिबिम्बों ने मानसबल को एक संत हृदय के समान बना दिया जिसमें निरंतर लौकिक और अलौकिक भावनाओं का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है।

काश्मीर की मीलों के सहारे मेरी एक प्रेमाभिव्यक्ति सुनिए—
प्रिये ! मैंने तुम्हें देखा है।

जब डल मील में सद्यः प्रस्फुटित कमलों के बीच से मेरा शिकारा जा रहा था, तब उन कमलों की मनोहर पंक्तियों को हाथ से छूकर मैंने केसर के रंगे तुम्हारे गौर वर्ण सुकोमल हाथों के स्पर्श का सुख पाया था।

जब मानस बल के पवित्र जल में मैंने नीचे की मछलियों को— नीचे की ओर तैरती हुई मछलियों को देखा था तो तुम्हारे श्वेत डुकूल के कोने से लज्जा के बोझ से झुकी हुई आँखें दीख पड़ी थी।

जब बुलर लेक के अपरिमित विस्तार में मैंने जलराशि के ऊपर सिंघाड़ों की बेल में हरीतिमा के दर्शन किए तो ज्ञात हुआ कि यह तुम्हारे हरे उत्तरीय का भाग है जिसके नीचे सेवार की भाँति तुम्हारी कुंतल राशि है।

प्रिये ! मैंने काश्मीर की झीलों के सहारे तुमसे इतनी दूर रहकर भी तुम्हारे दर्शन कर लिये !

पहल गाम के संबंध में मेरी एक छोटी सी बात सुनिये—पहाड़ी के नीचे एक छोरी सी बस्ती है। उसका नाम है पहल गाम। मुझे तो ऐसा ज्ञात हुआ कि कोई माँ अपनी गोद में अपने नन्हें से शिशु को रखे हुये प्रेम से उसका मुख निहार रही है।

समीपवर्ती नदी ही माता के वक्ष से निकली दुग्ध धारा है जिससे पहल गाम का पोषण होता है।

पर मेरे हृदय में तो यहाँ जिज्ञासा है कि पहल गाम कब तक शिशु बन कर अपनी माँ की गोद में रहेगा ? अनंत काल से तो उसका यही हाल है। तब क्या उसका शैशव अनंत शैशव है ?

तब तो प्रभु ! मेरा यौवन भी तुम अनंत यौवन कर दो !

अंत में फीरोज पुरी नाला के संबंध में मैंने लिखा है—

पर्वत के अन्तराल में बहता हुआ नाला !

जल कितनी शिलाओं के ऊपर-नीचे दायें-बाँये होकर निकल रहा है—उसी प्रकार से हम संसार में पड़े हुये पत्थर के समान व्यक्ति के चारों ओर से समय का अविराम प्रवाह जा रहा है। जिस प्रकार जल के संघर्ष से पत्थर घिसता और छोटा होता रहता है, उसी प्रकार समय के प्रवाह से मनुष्य का जीवन भी धीरे-धीरे घटता जाता है।

तब क्या हमारे जीवन को स्पर्श करता हुआ समय का प्रवाह भी एक भीषण नाला है ?

आज से बाईस वर्ष पूर्व सन् १८३५ में मैंने काश्मीर के दर्शन किए थे। बानिहाल से आगे चलकर मेरी आँखें निहाल हो गई थीं। मेरे अवाक हृदय के सामने सौंदर्यशाली काश्मीर था जैसे अबोध भ्रुव के सामने कमलनयन नारायण !

आज बाईस वर्ष बाद भी मेरे लिए काश्मीर धरती का स्वर्ग है जो प्रत्येक भारतीय के गौरव और अभिमान का भ्रुव-नक्षत्र है।

मेरी श्रद्धा-कामना

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र कृत 'इन्दिरा' उपन्यास की भूमिका लिखने की बात जब उठी तो पुरानी घनिष्टता के नाते कुछ अनमने से मन से स्वीकार कर दिया। सोचा, भूमिकाओं के इसयुग में एक भूमिका और सही—साधना के स्वरों एक स्वर और मिला देने की बात ही मेरे मन में थी। लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व आचार्य जी कुछ दिनों का परिचय हुआ था और तभी उनकी कुछेक रचनाओं की सुनने का अवसर भी मिला था। पर उसके पश्चात् न तो उनसे ही कभी भेंट हुई और न उनकी रचनाओं से ही। उन्हें प्रायः भूल-सा गया था। किन्तु जब 'इन्दिरा' की पाण्डुलिपि के साथ उनकी दो नई 'मौत की खोज' और 'जय-पराजय' तथा एक पुरानी प्रकाशित 'धूपदीप' पुस्तक प्राप्त हुई तो पुरानी सारी स्मृतियाँ मस्तिष्क में घूम गईं। उनकी अवस्था उस समय तीस वर्ष की थी जो अब बढ़कर पचपन को पार कर चुकी होगी। उनकी उपस्थिति से वातावरण में एक विचित्र सात्विकता रहती थी, जिसे अवस्था की वृद्धि ने और बढ़ाया ही होगा। और उनकी निरभिमानिता तो उनकी समस्त साहित्यिक पीढ़ी की अपनी उल्लेखनीय विशिष्टता से। उनका सहज स्नेहशील स्वभाव, सभी पर निःशुल्ल बातचीत और सारे कलह-कोलाहल को पी जाने वाली चेहरे की शान्ति और सौम्यता तथा हल्के से हल्का मजाक को भी पकड़

लेने की उनकी अद्भुत शक्ति—यह सब कबीर के निर्गुण ब्रह्म की तरह कुछ ऐसा था कि जिसको स्पष्टतः नहीं बताया जा सकता। और ये पुस्तकें जब मुझे मिलीं तो लगा कि उनके हृदय में मेरा पच्चीस वर्ष पुराना स्थान अब भी सुरक्षित है। पुस्तकें देने वाले से पूछा तो जाना कि वे अपनी आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी मेरीहर नई पुस्तक खरीदते हैं और उनके पास मेरा सारा साहित्य विद्यमान है। मेरे विकास पर उनकी इतनी सावधान दृष्टि है, यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है। पर इतने लम्बे समय में उन्होंने क्यों मुझे एक भी शब्द नहीं लिखा? मूक साधना, मूक सराहना और मूक अपनत्व, मेरी आत्मा इस प्रश्न का यही उत्तर देती है।

मुझे उनके प्रति स्नेह है, लेकिन किसी व्यक्ति के प्रति स्नेह होना एक बात है और उसके साहित्यिक के प्रति स्नेह तथा सराहना बिल्कुल दूसरी। इसलिए बहुत थके, ऊबे और ढीले हाथों से ही उनकी पुस्तक 'मौत की खोज' उठाई और इसी शीर्षक की कहानी पढ़ने लगा। एक ही कहानी ने मुझे यह बता दिया कि आचार्य जी की प्रतिभा और लेखन का ज्वालामुखी विभ्राम या तैयारी भले ही करता रहा हो सो नहीं गया था और अब जो उसने मुंह खोला है तो यह निश्चित मान लेना चाहिए कि वह साहित्य की भूमि को अनन्त उर्वरा-शक्ति प्रदान किए बिना दम नहीं लेगा। फिर 'अव्यर्थ-स्तुति', 'धन का विभाजन' और 'आयुदान' आदि कहानियाँ देखीं और अपने मत के प्रति मेरी आस्था गहरी ही होती चली गई। 'आयु-दान' कहानी को मैं खलील जिब्रान की श्रेष्ठ कहानियों की टक्कर की मानता हूँ।

उनकी दूसरी पुस्तक 'जय पराजय' है, जिसमें सात ऐतिहासिक कहानियाँ और आठ ऐतिहासिक लघुकथाएँ हैं। उनकी लघुकथाएँ एक विशिष्ट सौन्दर्य के साथ हिन्दी में प्रस्तुत की गई हैं। 'जय पराजय', 'वीर पूजा', 'शाही खेल', 'पतिव्रता का आत्म-समर्पण'

आदि कहानियों में प्राप्त सफलता इस बात की ओर संकेत करती है कि केवल सामाजिक और भावात्मक कहानियों में ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक कहानियों में भी उनकी लेखनी साधिकार चलती है। इन कहानियों में उन्होंने जिस सफलता के साथ ऐतिहासिक अनुभूति की रक्षा की है उसे देखते हुए मुझे विश्वास होता है कि ऐतिहासिक कहानियों के क्षेत्र में आचार्य मिश्र जी का हिन्दी साहित्य में एक निश्चित स्थान होगा।

आचार्य जी का तीसरा कहानी-संग्रह 'धूपदीप' है जिसका सबसे पहले उल्लेख किया जाना चाहिए था। इस संग्रह का प्रथम संस्करण सन् २००३ में प्रकाशित हुआ था। हिन्दी के पाठकों ने इसका पर्याप्त स्वागत किया, यही इसकी कहानियों की सफलता का प्रमाण है। इस संग्रह की 'वे तीनों' कहानी का व्यंग्य तो इतना तीक्ष्ण और मार्मिक रहा है कि आज भी मस्तिष्क में गूँज रहा है।

अब आचार्य जी की यह चौथी कृति प्रकाश में आ रही है—'इन्दिरा' एक सामाजिक उपन्यास, जो १९२१-२२ ईस्वी में लिखा गया और तब से अब तक उनके पारिवारिक झगड़ों और यदि उनमें ममत्व को चोट न पहुँचाने वाली शब्दावली का प्रयोग करें तो उनके पारिवारिक स्नेह या कर्तव्यों के कारण यों ही पड़ा रहा। इसका पढ़ा जाना इसलिए कदापि आवश्यक नहीं है कि हम आचार्य जी की उपन्यास-शैली के विकास को समझें, क्योंकि यह तो तभी सम्भव होगा जब उनके और उपन्यास सामने आएँगे, बल्कि इसलिए आवश्यक है कि इसमें जिस सामायिक समस्या को उठाया गया है, वह आज भी ज्यों की त्यों है और इसमें जिस औपन्यासिकता के दर्शन होते हैं उसमें हमें अभिभूत कर लेने की शक्ति है। जब मैं इस उपन्यास को पूरा पढ़ चुका तो मुझे अपने भीतर उठने वाले उस अनमने भाव के प्रति जो अभिमान उत्पन्न हुआ जिसकी चर्चा मैंने इस भूमिका के आरम्भ में ही की है। उपन्यास अपने कथानक, भाषा और शैली

में अपने लेखक की ही भाँति सहज, सादा, निरभिमान और सावधान है। चरित्र-चित्रण की रेखाएँ गहरी और स्पष्ट हैं। मनोविज्ञान ने उनमें रंग भरा है। और अस्वाभाविकता की छाया उन पर कहीं भी नहीं पड़ने पाई है। समूचे उपन्यास के बहुत गहरे में काव्यात्मकता की एक प्रच्छन्न धारा बहती है, जिसने अपनी प्रच्छन्नता में ही उपन्यास को रस दिया है; ऊपर आकर उसके व्यक्तित्व को अपने में लीन नहीं कर लिया है। सुन्दर उक्तियों और अलंकारों के रूप में ऊपर से केवल भाषा में ही थाप दी गई अनावश्यक काव्यात्मक उपन्यास की स्वाभाविक गति के सम्मुख अवरोध की तरह उपस्थित होती है। इस प्रकार का दुर्भाग्य, दुर्भाग्य से हिन्दी के अनेक उपन्यासों में मिल जाएगा। इन्दिरा की काव्यात्मकता उसकी आत्मा में है और अवरोध की तरह नहीं बल्कि ढाल की तरह, जो धारा के तेजी से बहने में सहायक होता है।

आचार्य जी के अनन्य मित्र अमर शहीद स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी इस उपन्यास को प्रकाशित हुआ देखना चाहते थे। उनकी इच्छा वर्षों के बाद पूरी हो रही है। वह पूरी तो हो रही है, हिन्दी के लेखक के लिए यही कम बात नहीं है। फिर भी इस उपन्यास का अभिनन्दन करते समय मुझे केवल एक ही खेद से कि काश यह सन् १९२१-२२ में ही प्रकाशित हो गया होता !

महादेवी वर्मा

यह काव्य है, यह चित्र है, यह संस्मरण है और यह गद्य है, इन साहित्य की उंगलियों ने जिस दिशा की ओर निर्देश किया है उस दिशा में महादेवी का व्यक्तित्व है—एक-सी सौम्य मुखमुद्रा में—एक-सी वेशभूषा में। इस साहित्य की तपस्विनी ने बाह्य जीवन के तूफानों में स्थिर रहकर जिस दृढ़ता और धैर्य से अन्तर्जगत् में प्रवेश किया है, दीपक की भाँति जलकर प्रकाश की स्निग्ध किरणें विकीर्णित की हैं, विषम परिस्थितियों की मरुभूमि में अनुभूत की मन्दाकिनी प्रवाहित की है, वह हमारे आधुनिक साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना रहेगी। उनके संस्मरणों में मेरे पास अनेक चित्र हैं। उनमें से मुख्य चित्र क्रम से इस प्रकार हैं :—

पैंतीस वर्ष पूर्व नवम्बर सन् १९२२ में मैंने असहयोग आन्दोलन में स्कूल छोड़ दिया था और प्रभातफेरी के लिए मैं देश सेवा सम्बन्धी नयी-नयी कविताएँ लिखा करता था। उसी समय कानपुर के श्री वेणीमाधव खन्ना ने मेरी कविता 'देश सेवा' पर ५१) का पुरस्कार दिया था। इस पुरस्कार की प्रसिद्धि से ही श्री रामरख सिंह सहगल ने अपने नवीन प्रकाशित होने वाले 'चाँद' के लिए कविता भेजने का अग्रह किया था। मैंने 'चाँद' के लिए कविता लिखी और 'चाँद' मेरे पास आया। उसी समय मैंने उस 'चाँद' के

पृष्ठों में महादेवी बर्मा की 'जीवन' शीर्षक प्रथम कविता देखी और इस कविता ने मुझे महादेवी का प्रशंसक बना दिया। कविता जितनी सरल थी उतनी ही भावनाओं में गहरी थी और उस समय लिखी जानेवाली कविताओं में शैली की दृष्टि से नवीन थी। यह महादेवी की रचनाओं से प्रथम परिचय था।

सन् १९२५ में जब बी. ए. पढ़ने के लिए मैं प्रयाग आया तो महादेवी को देखने की इच्छा भी सहसा जाग उठी। उस समय वे कास्थवेट गर्ल्स कालेज में पढ़ा करती थीं। इस बीच मैं महादेवी की कविताएँ 'चाँद' में बराबर प्रकाशित होती रहीं और वे अपनी भावनाओं और कल्पनाओं में बराबर आगे बढ़ती रहीं। महादेवी उन दिनों कवि सम्मेलनों में भी जाया करती थीं। इन्हीं अवसरों में से एक में मैंने उनके दर्शन किये। सीधी-साधी वेश भूषा, निखरा हुआ रङ्ग, अर्थ भरे नेत्र, स्फुरककर आगे बढ़ी हुई नीचे की ओर कुछ उठी-सी नासिका, स्फूर्तिमय, किन्तु कुछ दुबला शरीर—यही महादेवी का प्रथम दर्शन था। उनके शरीर में काव्य-साधना की यह भूमिका थी।

बाद में महादेवी के भाइयों के साथ ४, बैंक रोड पर रहने का अवसर मिला। तब महादेवी कभी-कभी अपने भाइयों के पास आया करती थी। मेरा उनसे व्यक्तिगत परिचय यहीं से आरम्भ होता है। हम सब लोग प्रायः साथ ही चाय पिया करते थे और विविध विषयों पर घण्टों बातें हुआ करती थीं। महादेवी भी उनमें अक्सर भाग लिया करती थीं। महादेवी के चिन्तनशील मस्तिष्क का आभास मुझे ऐसे अवसरों पर मिला करता था। मुझे ज्ञात होने लगा था कि भविष्य में महादेवी अवश्य ही हिन्दी कविता के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना लेंगी।

जब मैं बैंक रोड के बगल से उठकर एलनगंज में आया तो श्री पद्मकान्त मालवीय मेरे यहाँ आया करते थे। हम लोगों ने बहुत विचार

विनिमय के बाद 'सुकवि समाज' की स्थापना की जिसके सभापति थे श्री कृष्णकान्त मालवीय और तीन मन्त्री थे पद्मकान्त मालवीय, महादेवी वर्मा और मैं। प्रयाग में 'सुकवि समाज' की धूम थी। उसकी पाक्षिक बैठक में श्रीमती सरोजनी नायडू, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री गोपालशरण सिंह आदि ने अपनी रचनाएँ सुनायी थीं। श्रीमती महादेवी ने भी 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' कविता उसी समय लिखकर 'सुकवि समाज' में प्रथम बार सुनायी थी। यह बात सन् १९३२ की है। भगवतीचरण वर्मा की 'नूरजहाँ की कब्र पर', नरेन्द्र शर्मा की 'शूल-फूल' की कविताएँ और श्रीमती महादेवी की 'रश्मि' की कविताएँ प्रायः 'सुकवि समाज' में ही सुनायी जाती थीं। इस समय तक महादेवी ने यथेष्ट ख्याति अर्जित कर ली थी। उस समय रामेश्वरी गोयल की रचनाएँ भी महादेवी के ही आदर्श पर लिखी जा रही थीं।

तबसे अनेक वर्ष बीत गये किन्तु काव्य-साधना के वे दिन आज भी स्मृति-पटल पर ज्योति के अक्षरों से उत्कीर्णत है। संस्कृत में एम० ए० पास कर आज महादेवी प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं। नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीप-शिखा की यशस्विनी कवियित्री हैं और उनकी शैली में आधुनिक हिन्दी काव्य की अनेक रचनाएँ लिखी जा चुकी हैं। साहित्य सम्मेलन ने सेक्सरिया पुरस्कार और मंगला प्रसाद पारितोषिक देकर उनकी काव्य-प्रतिभा का उचित मूल्यांकन किया है। वे आज आधुनिक काव्य की ऐसी तेजस्विनी रश्मि-राशि हैं जिसकी प्रभा कभी धूमिल नहीं होगी।

गद्य के क्षेत्र में उन्होंने कुछ वर्षों तक 'चाँद' का सम्पादन करते हुए अग्रलेखों के रूप में बड़े गम्भीर लेख लिखे हैं जो सामयिक रहते हुए भी अपने महत्व में चिरवर्षों तक अक्षुण्ण है। अतीत के चल-चित्रों में भविष्य के स्थायी चित्र हैं। उनकी स्मृति की रेखाएँ सजीव हैं। उनमें जीवन की अनुभूतियाँ संस्मरणों के छायाग्राही चित्र हैं।

कवि होने के साथ ही साथ महादेवी चित्रकर्त्री भी हैं। उन्होंने लिखा है कि रात को स्लेट पर गणित के स्थान में तुक मिलाकर और दिन में माँ या चाची की सिन्दूर की डिब्बिया चुराकर कोने में फर्श पर रंग भरना और दंड पाना मुझे अब तक स्मरण है। कह नहीं सकती कि अब वे वयोवृद्ध चित्रकार जिनके निकट मैंने रेखाओं का अभ्यास किया था होंगे या नहीं यदि होंगे तो सम्भव है उन्हें वह विद्यार्थिनी भूली न होगी जो एक रेखा खींचकर तुरन्त ही उसके भरने का रंग माँगती थी और जब वे रंग भरना सिखलाने लगते तब वह नियम से उनके सामने भरे गये रंगों पर रात को दूसरा रंग फेंककर चित्र ही नष्ट कर देती थी। किन्तु मैं कहता हूँ कि उनकी चित्र तुष्टि नहीं हुई। 'यामा' और 'दीपशिखा' में उनके द्वारा खींचे गये चित्रों और उनमें सजे हुए हस्ताक्षरों के सौंदर्य की बात तो हिन्दी में अभिनव और अभिनन्दनीय है। कला के विविध रूपों में महादेवी की प्रतिभा ने अपने को व्यक्त किया है। ऐसा समन्वय हिन्दी के भाग्य से ही उनमें हुआ है।

एक बात जो उनके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के लिए अधिक कुतूहलजनक है वह है उनकी हँसी। गंभीर से गंभीर परिस्थितियों में वे हँस सकती हैं और जीवन से परिहास कर सकती हैं। बातों के साथ उनकी हँसी की अजस्र-धारा जीवन की अनेक उलझनों को सुलझा सकती है।

जो यह लिखती है कि 'पीड़ा मेरे मानस में भोगे पट-सी लिपटी है।' इतना मुक्त हास्य कर सकती है, कभी-कभी यह समझ में नहीं आता। किन्तु इसका हल मैंने निम्न पंक्तियों में खोजना चाहा है :—

बादल एकांत शून्य में रुदन करता है, पर वह पृथ्वी के सामने अपने आँसुओं को छिपाने के लिए इन्द्रधनुष की सतरंगी हँसी हँस दिया करता है। यह कौन जानता है कि उसकी इन्द्रधनुषी हँसी के भीतर कितने आँसू भरे हुए हैं ?

मृत्यु का अनुभव

आज मैं मृत्यु के सिंह-द्वार से लौटा हूँ। कितना विचित्र है मृत्यु का वह सिंह द्वार ! अभी तक मैं मृत्यु को कल्पना की आँखों से देख कर अपने नाटकों में यथा स्थान सजा दिया करता था। आज मैंने मृत्यु के मोहक दर्शन किए। भगवान् मृत्युंजय ने मुझे नचिकेता के रूप में वरदान देकर जीवन में लौटने का आदेश दिया, और मैं मृत्यु को छूकर जीवन की इस नयी तुली घूप-छाँह में फिर आ गया हूँ ! मैं अभी तक मृत्यु को भयानकता से जोड़ दिया करता था। वस्तुतः बात वैसी नहीं है। वह केवल एक छोटा सा परिवर्तन और जिस प्रकार एक परम्परावादी किसी भी प्रकार के परिवर्तन से भागता है, उसी जीवन का रस लेते हुए दम मृत्यु के छोटे से परिवर्तन से डरते हैं। हम तट पर पड़े हुए लकड़ी के तख्ते की तरह आसानी से नीचे नहीं खींचे जा सकते। परन्तु जब प्रवाह हमें समेट लेता है तो हम आसानी से बहने लगते हैं ! मैंने देखा है कि यही 'बहना' मृत्यु है।

किन्तु इसे मृत्यु का नाम किसने दिया ? यह तो श्यामा है, आकाश जैसा नील वस्त्र पहने हुए है। जैसे सांझ का झुटपुटा धीरे-धीरे बढ़ता है; क्षण-क्षण में बड़ी हलकी-बड़ी मीनी पर्त समय के वक्षस्थल पर पड़ती है, उसी प्रकार इस श्यामा का आँचल नेत्रों की

पुतलियों पर धीरे-धीरे पड़ने लगता है और जैसे एक वात्सल्यमयी मा स्नेह और दुलार से अपने शिशु को गोद में समेट लेती है, उसी प्रकार श्यामा हमें अपनी गोद में लेकर अपने झीने और हल्के आवरण में ढक लेती है ! हम उसकी गोद में डूबते हुए तारे की भाँति विलीन हो जाते हैं ।

ऐसी है श्यामा जिसे हम मृत्यु कहते हैं । आज उसी छाया को छूकर मैं आया हूँ । विष की लहरों ने मुझे बहा दिया था, किन्तु उस सीमाहीन महासागर तक नहीं पहुँच सका । विष की लहर कुछ दूर चलकर सूख गई, जैसे वह मरुस्थल की नदी हो ।

मैं प्रतिदिन प्रातः उषा-पान करता हूँ । पाँच गिलास शीतल जल । मेरे एक वैद्य मित्र ने कहा था—यदि पानी में थोड़ा सा शहद मिला लिया करें तो स्वास्थ्य को अधिक लाभ हो । अतः मैं इधर कुछ वर्षों से प्रतिदिन उषा-पान में शहद भी सम्मिलित कर लेता था । कभी अपने मित्रों से कभी शहद के व्यापारियों से मैं अच्छे से अच्छा शहद प्राप्त कर लिया करता था और मेरे पास शहद का अच्छा संग्रह हो गया था ।

कल जब मैंने उषा-पान के लिए मधु पात्र हाथ में लिया तो देखा उसमें समाप्त हो गया है ! मैंने अपने संग्रह में रखे अन्य पात्रों में शहद खोजा ! एक पुराने टीन के डिब्बे में बहुत अच्छा शहद मुझे मिला । यह सहारनपुर का शुद्ध शहद था, जो दो वर्ष पूर्व लिया गया था । दो वर्ष से वह शहद टीन के डिब्बे में रखा हुआ था । मैंने उसे चखा, स्वादिष्ट लगा । उसमें से आठ चमचे शहद निकाल कर पानी में मिलाना और स्वाद के साथ मैं धीरे-धीरे पी गया । जल में कुछ चिकनाई भी मालूम पड़ी । शायद टीन के उस डिब्बे में कुछ घी भी रखा हुआ था । आध घंटे बाद—

मैंने मृत्यु की ओर यात्रा प्रारम्भ कर दी । पुराने टीन के पात्र में जगह-जगह जंग लग गया था और उसमें लगातार दो वर्षों तक

शहद रखा रहने के कारण उसमें टीन का विष पहुँच गया था। फिर उस शहद के किसी भाग में समान रूप से घी भी मिल गया था। इस प्रकार वह मधु भयानक विष का कोष बन गया था। था। दुर्भाग्य से वह मधु मेरे लिए हलाहल बन कर मृत्युदूत के रूप में उपस्थित था। मुझे महाप्रयाण का संकेत मिल गया !

मृत्यु की यात्रा करते हुए मैंने क्या अनुभव किया ? सबसे प्रथम मेरे मुख में कड़ुवाहट आई। स्नाग निकला और गोद की भाँति मेरी जीभ तालु से सटने लगी। मेरी आँखों में उष्णता की लहर उठी जो क्रमशः बढ़ती गई। ऐसा ज्ञात होने लगा कि कानों के बाहरी द्वार बन्द होने लगे हैं और अमावस की मध्य रात्रि में जैसा सन्नाटा छाया रहता है वैसा ही कसा हुआ वातावरण कानों में समा गया है उल्कापात जिस वेग से होता है, उसी वेग से आँखों की पुतलियाँ बाहर निकलने के लिए शक्ति लगाने लगीं ! मस्तिष्क में चक्कर उठने लगे ! जरा-सा छू जाने पर बीर-बहूटी जैसे अपने अवयव समेत लेती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के तन्तु सिमटने लगे ! कुछ देर ऐसा होने के बाद मस्तिष्क के तन्तुओं की कसावट रबर के फीते की भाँति कम और अधिक होने लगी।

इस समय मैं अपने 'स्टडी रूम' में था। लड़खड़ाता हुआ भीतर आया मैंने पत्नी से कहा कि शहद किसी कारण से जहरीला हो गया है और मैंने पानी के साथ काफी मात्रा में पी लिया। मैं शायद न बचूँ !

पत्नी धबरा उठी, किन्तु उन्होंने धैर्य हाथ से नहीं जाने दिया। शीघ्र ही डा० वी० पी० निगम को फोन किया गया। पत्नी ने मुझे कै कराने की कोशिश की किन्तु कै नहीं हुई। उन्होंने चार गिलास नींबू का अर्क मुझे पिला दिया। डाक्टर साहब शीघ्र ही आ गये। उनके प्रयत्नों से विष का प्रभाव धीरे धीरे नष्ट हुआ। मेरा पेट पूरी

तरह से धोया गया । विष के लक्षण प्रकट होते ही उपचार कर दिया गया । तीन दिन की कमजोरी के बाद मैं ठीक हुआ ।

विष के प्रभाव से जब मैं आराम कुर्सी पर लेटा हुआ संज्ञाहीन होने की अवस्था में रहा था, उस समय मेरी दृष्टि अस्थिर थी ! आँखों के सामने एक नीचे विस्तार-सा छा गया था । उस नीले पन के भीतर कुछ कुछ लालिमा दृष्टिगत होती थी । यह लालिमा गाढ़ी होकर बैंगनी रंग में परिणत हो गई और बैंगनी रंग श्याम रंग का हो गया ! यही मृत्यु के क्षेत्र शमामल वातावरण ज्ञात होता था, जिसमें संज्ञाहीनता का निस्तब्ध वातावरण-सा छाया रहता है !

ये सारी परिस्थितियाँ दस-बारह सैकंड में हो हो गई । कष्ट का कही नाम नहीं था !

इस प्रकार मैंने उस क्षेत्र का अनुभव किया जहाँ सब कुछ शान्त और कष्टहीन है ! ईशावास्योपनिषद् में जहाँ 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' (त्याग से तू उस ब्रह्म को अनुभव कर) जैसी गंभीर बात कहने के बाद 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (किसी के धन की इच्छा न कर) जैसी सहज बात कह दी है, उसी भाँति मृत्यु-छाया की गम्भीर शांति कहने के बाद मैं भी एक सहज बात कहना चाहता हूँ कि—

“अपना शब्द धी रखे हुए टीन के बर्तन में कभी न रखें ।”



हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लघुकथा लेखक

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र का साहित्य

‘टैमोर की लघुकथाओं में जीवन का सम विविध रूप से निहित है। आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र ने अपनी लघुकथाओं में उससे कहीं अधिक सफलता प्राप्त की है

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

‘आचार्य जगदीशचन्द्र जी मिश्र की ‘लघुकथाएँ’ और ‘ऐतिहासिक लघुकथाएँ’ एक नई चीज़ हैं और हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति।.....उनकी ‘आधु-दान’ कहानी को मैं खलील जिब्रान की श्रेष्ठ कहानियों की टक्कर की मानता हूँ।’

—डॉ० रामकुमार वर्मा

‘आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र की कहानियाँ हमें बहुत पसन्द हैं। ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने में उनका कोई जोड़ नहीं।’

—निराला

‘इन्दिरा’, ‘मौत की खोज’, ‘जय-पराजय’ आचार्य मिश्र जी की सभी पुस्तकें मुझे बहुत पसन्द आई हैं।’

—राहुल सांकृत्यायन

‘आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र सरल भाषा में, सरल ढंग से लघुकथाओं के द्वारा पाठकों पर जो सुन्दर और स्वस्थ प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं, वह प्रायः बड़ी-बड़ी कलात्मक रचनाओं के पल्ले नहीं पड़ता। आचार्य मिश्र जी इस क्षेत्र में अकेले हैं।’

—गिरिजादत्त शुक्ल ‘गिरीश’

हिन्दी लघु-कथा की दिशा में जो इने गिने लोग लेखन कार्य कर रहे हैं, उनमें आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिल्प और कथ्य, दोनों दृष्टियों से उनकी लघुकथाएँ पाठक को आकर्षित करने में समर्थ हैं। इस दिशा में उनकी आगामी कृतियों की, हिन्दी पाठक उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे।’

—धर्मवीर भारती



विशेषी पुस्तक माला

आचार्य